॥ श्रीहरिः ॥

501

उद्धव-संदेश

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

501

॥ श्रीहरिः ॥

उद्धव-संदेश

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

लेखक—डॉ० महानामव्रत ब्रह्मचारी
अनुवादक—चतुर्भुज तोषनीवाल

संवत् २०८१ पंद्रहवाँ पुनर्मुद्रण २,०००
कुल मुद्रण ३५,५००

❖ मूल्य—₹ 40 (चालीस रुपये)

कूरियर/डाकसे मँगवानेके लिये
गीताप्रेस, गोरखपुर—273005
www.gitapress.org
gitapressbookshop.in

gitapress_since1923
gitapress_since1923
@GitaPress
@gitapress1923

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—273005
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
✆ + 91-9235400242 / 244 ✆+91-9235400244
e-mail: booksales@gitapress.org

॥ श्रीहरिः ॥

सम्पादकीय निवेदन

श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी बंगाल प्रान्तमें एक उच्चकोटिके साधक रहे हैं। इनके द्वारा श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे आर्ष ग्रन्थोंकी सुमधुर एवं प्रभावोत्पादक व्याख्या बँगला भाषामें प्रस्तुत हुई है।

पिछले दो-तीन वर्षोंमें 'कल्याण' के मासिक अंकोंमें धारावाहिक रूपसे 'उद्धव-संदेश' का प्रकाशन हुआ है, जिसको पाठकोंने विशेष चावसे पढ़ा। श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णका उद्धवके द्वारा व्रजवासियों तथा व्रजांगनाओंको संदेश भेजनेका प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है। इसके सम्पूर्ण भावोंकी अभिव्यक्ति शब्दोंमें होनी साधारण बात नहीं है, परंतु ब्रह्मचारीजीने बँगला भाषामें इस प्रसंगकी अत्यन्त मधुर एवं चित्ताकर्षक प्रस्तुति की है, जिसका हिन्दी अनुवाद सुललित भाषामें श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवालके द्वारा सम्पन्न हुआ। 'कल्याण' के प्रेमी पाठकों एवं साधकोंके द्वारा यह आग्रह होता रहा कि इसे पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जाय। भगवत्कृपासे अब यह सुयोग प्राप्त हुआ है और यह पुस्तक-रूपमें प्रस्तुत है।

आशा है, पाठकवृन्द इस संकलनको पढ़कर लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और उनके अत्यन्त आत्मीय व्रजवासीजनोंके दिव्य भावोंसे किंचित् अनुप्राणित अवश्य होंगे।

वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया)
सं० २०५०

विनीत—
राधेश्याम खेमका

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

१- श्रीभगवान्‌की भक्त-दुःखकातरता ५
२- व्रजगमनकी असमर्थता १०
३- दूत-प्रेषणकी सार्थकता १६
४- प्रस्तुतिका आन्तरिक हेतु २१
५- व्रजकी शुभ यात्रा २९
६- व्रज-प्रवेशका अनधिकार ३६
७- नन्दराजके संग निरानन्द वार्तालाप ४२
८- अप्रत्याशित व्यर्थताका अनुभव ५१
९- सांत्वना-योग्य भाषाका दारिद्र्य ५६
१०- नन्दराजका दीनभाव ६०
११- श्रीकृष्णकी भगवत्ता ६४
१२- माधुर्यावगाहनकी अक्षमता ७१
१३- व्रजवधुओंकी निकटवर्तिता ७६
१४- यदुपतिकी मित्रता ८४
१५- आगमनका प्रयोजन ९०
१६- गोपियोंकी मर्मव्यथा ९५
१७- श्रीराधाविरह-वेदनाका प्राकट्य १०२
१८- चित्रजल्पकी मूल कथा १०६
१९- प्रजल्प-परिजल्प ११४
२०- विजल्प-उज्जल्प १२१
२१- संजल्प-अवजल्प १३०
२२- अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प, सुजल्प १४१
२३- उद्धवकी व्याकुलता १५४
२४- प्रेमकी सर्वात्मकता १६१
२५- प्रेम-विवर्धन-परायणता १६८
२६- कृष्ण-प्रीतिकी सुगभीरता १७४
२७- नन्दनन्दनकी नवरूपता १८२
२८- विरह-व्यथाका उपशमन १९०
२९- उद्धवकी परमप्रियता १९४
३०- उद्धवद्वारा लतागुल्म होनेकी कामना २००
३१- पदरजकी प्रार्थनाकी चमत्कारिता २०९
३२- वेदनापूर्ण व्रजवार्ता २१८

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

उद्धव-संदेश*

श्रीभगवान्‌की भक्त-दुःखकातरता

मनुष्य दुःखी जीव है, अनन्त दुःखोंसे भरा है उसका जीवन। जगत्‌में ऐसा जीव नहीं दीखता, जिसने कभी कोई दुःख न भोगा हो। इसीलिये दुःखकातर जीव निरंतर सुखकी अभिलाषा करता रहता है। **'सुखं मे भूयाद् दुःखं मे मा भूत्'**—उपनिषद्‌का यह मन्त्र ही विश्वके समस्त मनुष्योंका जप-मन्त्र है।

दुःखी है, इसीलिये तो मनुष्य सुखकी कामना करता है। मनुष्यको सुख कतई नहीं मिलता ऐसी बात भी नहीं है। बीच-बीचमें उसे क्षणिक सुख मिलता रहता है, किंतु यह सामयिक सुख स्थायी नहीं होता। उस नश्वर सुखसे किसीको भी परितृप्ति नहीं होती। मनुष्य अपने अन्तरमें उस सुखकी खोज करता रहता है, जो सुख निरवच्छिन्न, शाश्वत और विशुद्ध है—जो सुख दुःखसंस्पर्शवर्जित, निरतिशय और आत्यन्तिक है। इसी सुखका नामान्तर ब्रह्मानन्द है। मनुष्य जाने-अनजाने जिस सुखकी कामना करता है वह ब्रह्मवस्तु ही है। नित्य-निरन्तर, प्रतिक्षण जीव श्रीभगवान्‌को ही खोजता हुआ भ्रमण कर रहा है।

---

* कृष्णचरित्रपर भागवतादि पुराणों तथा 'आनन्दवृन्दावनचम्पू', 'गोपालचम्पू' एवं 'श्रीनिवासविलासचम्पू' के अतिरिक्त 'मेघदूत' के ढंगपर रचित 'उद्धव-संदेश' एक बड़ा सुन्दर स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ भी है। इस निबन्धके श्लोक उसीके हैं।

मनुष्य श्रीभगवान्‌को खोज तो रहा है, किंतु वहाँतक पहुँचनेका पथ नहीं जानता। शास्त्रसमूह जीवको उस पथका स्पष्टरूपसे निर्देश देते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—नित्य आनन्द-प्रदाता आनन्दघन श्रीभगवान्‌का इस विधिसे अनुसंधान करो, उनका भजन करो, उनका ध्यान करो। उनकी प्राप्तिसे ही चिरशान्ति मिलेगी। श्रीभगवान्‌का भजन करनेके उपदेश और उपासना करनेकी पद्धतिसे शास्त्र भरे पड़े हैं। भाग्यवान् जीव ही शास्त्रोक्त विधिसे भगवदुपासना करके शाश्वत शान्तिके अधिकारी होते हैं।

किंतु जो अभागे जीव साधन-भजन नहीं कर पाते, वे केवल दुःख-समुद्रमें ही गोता लगाते रहते हैं। इस कलियुगमें ऐसे दुःखी जीवोंकी संख्या सर्वाधिक है। इसी हेतु कलियुगके आगमनके साथ ही जगत्‌में श्रीमद्भागवतशास्त्र भी प्रकट हो गया। कलिहत जीवसमूहके लिये श्रीमद्भागवत एक अभिनव वार्ता लेकर प्रकट हुआ है। समस्त शास्त्र जीवको उपदेश देते हैं भगवान्‌का भजन करनेके लिये, किंतु भागवतशास्त्र केवल यही नहीं कहता; उसका संदेश अघोषितपूर्व है।

श्रीमद्भागवत घोषणा करता है—'हे जीव! भगवान्‌को भजनेकी तुम्हारेमें सामर्थ्य नहीं है, उनकी स्तुति करनेकी भी तुम्हारेमें योग्यता नहीं है। फिर भी तुम केवल मेरी एक बात मानो—तुम नीरव होकर केवल अपने कानोंको खुला रखो।' अरे, तुम उन्हें क्या पुकारोगे? सुनो, वे ही तुम्हें पुकार रहे हैं। उनके लिये तुम्हारेमें कितनी-सी आतुरता है? देखो, तुम्हारी अपेक्षा करोड़ों-गुणी अधिक आतुरतासे वे तुम्हारा आह्वान कर रहे हैं। भागवतके देवता मुरलीधर अपनी

मुरलीको निरन्तर अपने अधरोंसे लगाये हुए, सर्वत्र अपना '**सर्वभूतमनोहरम्**' निनाद प्रसारित करते हुए सभी जीवोंको अपने समीप बुला रहे हैं। उन्हें बुलानेकी तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है, इसीलिये वे ही तुम्हें बुला रहे हैं। मनुष्य भगवान्‌के पास नहीं पहुँच पाता, इसीलिये भगवान् ही उतरकर (अवतरण कर) चले आये हैं मनुष्यके पास। अज्ञ जीव बुलाना नहीं जानता, इसीलिये वंशीधर अपनी विश्व-मोहिनी मुरलीसे उसे ही बुला रहे हैं। विश्व-ब्रह्माण्डके लिये भागवतशास्त्रका यही अभिनव अवदान है। जगत्-दरबारमें श्रीमद्भागवतशास्त्रकी यह नवीन घोषणा ही उसके श्रेष्ठत्वकी परिचायक है। भगवान् अपना आत्मपरिचय '**निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्**' यानि मैं—भागवत, वेदकल्पवृक्षका विगलित फल हूँ—कहकर देता है; जो कृपावश पककर धरतीपर उतर आया है। हमारे देवता अपनी असीम करुणाके वशवर्ती होकर ही गोलोक-धामसे गोकुलमें कालिन्दीके पुलिनपर अवतरित हुए हैं।

श्रीभगवान्‌की इस कृपाका संवाद श्रीमद्भागवतके प्रतिपृष्ठपर बिखरा पड़ा है। '**कं वा दयालुं शरणं व्रजेम**'—उद्घोषणा करके भागवत जगत्‌के समस्त शास्त्र-इतिहासको पुकार-पुकार कर पूछ रहा है—'ऐसा दयालु ठाकुर दूसरा कौन है, जिसकी शरण लें? जिसने पूतना-जैसी महापापीयसीको भी धात्रीगति देकर वैकुण्ठ भेज दिया, उसके समान करुणासागर किसी भी देशमें, किसी भी कालमें कोई हुआ हो, ऐसा कोई बता सकता है क्या? कलिताप-दग्ध क्षुद्र कीटानुकीट जीवसमूह पूतनाको सद्गति देनेवाले ऐसे करुणाधन ठाकुरको

छोड़ और दूसरे किसका आश्रय लेंगे? यही श्रीमद्भागवतकी मर्मस्पर्शी आश्वासनमयी वाणी है।

मनुष्य चाहता है भगवत्प्राप्ति। भागवत इसकी अपेक्षा भी महान् बात यह कहता है कि भगवान् चाहते हैं मनुष्यको। भक्त व्याकुल है भगवान्के लिये; इसकी अपेक्षा भी मनोरम है, भागवतकी यह अन्तर्वाणी कि भगवान् व्याकुल हैं भक्तके लिये। स्तन्यपानके लिये कातर होकर गोपाल रुदन कर रहे हैं माँ यशोदाके लिये, बछड़े गँवाकर कन्हैया कातर होकर वन-वनमें उन्हें खोजते फिर रहे हैं बिना ग्रास लिये, व्रजललनाओंका मन हरण करके अपने सांनिध्यमें बुलानेके लिये वंशीपर मधुर ध्वनि छेड़ रहे हैं गोपीजनवल्लभ—यही भागवतीय लीलाकी मधुरिमा है।

व्रज छोड़कर व्रजजीवन चले गये हैं मथुरा। व्रजवासिनी गोपबालाएँ हो गयी हैं परम विरह-व्याकुल। वृन्दादेवीको दूती बनाकर अपने प्राणकान्तके पास भेजा है। इसी लीलाका अनेक वैष्णव पद-कर्ताओंने आस्वादन किया है। किसी-किसी पुराणमें भी ऐसा वर्णन मिलता है। किंतु श्रीमद्भागवतमें ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है।

भक्त व्याकुल है भगवान्के लिये। ऐसा वर्णन करनेकी अपेक्षा भागवत यह बतानेके लिये आग्रही है कि भगवान् भक्तके लिये कितने व्याकुल हैं। इसीलिये व्रजसे दूती बनाकर मथुरा-प्रेषणका संवाद न देकर भागवत बता रहा है—मथुरासे वृन्दावनको दूत-प्रेषणकी मधुमय वार्ता। भागवतमें श्रीराधाकी दूती वृन्दाकी नहीं, श्रीकृष्णके दूत श्रीउद्धवकी कथा है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४६वें और ४७

वें—इन दो अध्यायोंमें इस दूत-प्रेषणके मधुर प्रसंगका आस्वादन किया गया है। इन युगल अध्यायोंका अवलम्बन करके 'उद्धव-संदेश' शीर्षकसे हम इस मधुर प्रसंगकी समीक्षा करेंगे। एकादश स्कन्धमें श्रीउद्धवके प्रति श्रीभगवान्‌द्वारा दिये गये दिव्य उपदेशोंसे परिपूर्ण जो अध्याय हैं, उनका नाम है 'उद्धव-संवाद'।

व्रजगमनकी असमर्थता

व्रजेन्द्रनन्दन नन्दालयमें प्रकट होकर व्रजमण्डलमें दस वर्ष आठ महीने रहे। तत्पश्चात् मथुरा आकर कंसवध किया। कंसवधोपरान्त उसके पिता उग्रसेनको राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया। इसके बाद कृष्ण-बलरामका क्षत्रियोचित उपनयन-संस्कार हुआ। उपनयनके बाद उन्होंने शास्त्रविधिके अनुसार गुरुगृह-वास, तपश्चर्या और अध्ययन किया। यमालयसे गुरुपुत्रको लौटा लाकर गुरुदक्षिणा दी। तब पुनः मथुरा लौटे। प्रासादकी चन्द्रशालिकापर खड़े-खड़े आज अनेक दिनोंके बाद कलकल निनाद करती हुई यमुनाजीके दर्शन किये। यमुनाके मधुर कलनादने व्रजवल्लभके अन्तरमें व्रजवनकी विविध क्रीडाओंकी मधुर स्मृति जाग्रत् कर दी। व्रजनाथ व्रजके विरहमें अत्यन्त कातर हो उठे। अपने विरहीजनोंका संवाद लानेके लिये और उनको कुछ सान्त्वना-वाक्य कहनेके लिये श्रीमान् उद्धवको श्रीवृन्दावन भेज दिया।

श्रीउद्धव महाराजकी व्रजयात्रा-वर्णनसे पूर्व कुछ बातोंपर विचार कर लेना आवश्यक है। व्रजप्राण श्रीकृष्ण परम प्रेममयी व्रजभूमिको त्यागकर मथुरा गये ही क्यों? यदि प्रयोजनवश गये भी, तो कंसवध करके लौट क्यों नहीं आये? हमेशाके लिये लौटकर आना यदि सम्भव नहीं हो तो बीच-बीचमें क्यों नहीं आते-जाते? आज भी दूतको न भेज कर, स्वयं क्यों नहीं जा रहे हैं? यदि वृन्दावन जानेका उचित कारण नहीं बन पा रहा, तो व्रजके अपने प्रियजनोंको ही मथुरामें लाकर क्यों नहीं रख लेते हैं? उद्धव-प्रेषणके

तात्पर्यको भलीभाँति हृदयंगम करने-हेतु इन सब विषयोंपर सुस्पष्ट अनुभूति आवश्यक है। अतः पहले इन सब प्रश्नोंका यथासम्भव संक्षेपमें समुचित उत्तर खोजा जाय।

मनुष्यको जहाँ प्रेमका व्यवहार मिलता है वहीं रहना चाहता है। अधिक प्रेमके क्षेत्रको त्यागकर वह कम प्रेमवाले स्थानपर नहीं रहना चाहता—यह मानव-स्वभाव है। किंतु श्रीभगवान्‌का स्वभाव ऐसा नहीं है। जो उन्हें प्रेम करता है, वह भी उससे प्रेम करते ही हैं। उनके प्रति जिसका प्रेम जितना अधिक है, वह भी उसे उतनी ही अधिक मात्रामें प्रेम करते हैं। गीतामें श्रीमुखवाणी जो है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (४।११)

जो भक्त उनका जिस भावसे आश्रय चाहता है, वे भी उस भक्तका उसी भावसे भजन करते हैं। उनके महान्-से-महान् भक्त हैं—इस आधारपर भगवान् अपने क्षुद्र भक्तकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वृन्दावनके परम प्रेमास्पद भक्तोंके साथ रसास्वादनमें पूर्णतया मग्न होते हुए भी श्रीकृष्ण मथुरा-धामके प्रिय भक्तोंको भुला नहीं सकते। ऐसा करनेसे उनका भक्तवत्सल नाम जो कलंकित होता है।

श्रीवृन्दावनके प्रियजनोंकी प्रीतिकी इस जगत्‌में कोई तुलना नहीं, यह बात सत्य है। किंतु मथुराके भक्त भी उपेक्षा-योग्य नहीं हैं। श्रीकृष्णको पुत्ररूपसे प्राप्त करनेके लिये वसुदेव-देवकी कितनी कठोर साधना जो कर रहे हैं। विवाहके दिनसे ही उनपर दुःखका पहाड़ टूट पड़ता है। सुदीर्घकालसे वे कारागारमें अवरुद्ध हैं। श्रीकृष्णके अवतरित होनेके बाद भी वेदनासे भरपूर दस वर्ष आठ मासका दीर्घकाल व्यतीत हो गया। इस वेदनाग्रस्त दम्पतिका प्रत्येक

क्षण केवल कृष्ण-चिन्तनमें बीत रहा है। अतएव वंशीवट, यमुनातट-जैसे अत्यन्त आनन्ददायक स्थान होते हुए भी वे देवकीनन्दन अपने माता-पिताके कष्टमय दीर्घ श्वासोंसे उत्तप्त कंस-कारागारको भूल नहीं पाते! माता-पिताके अतिरिक्त और भी अनेक भक्त मथुरामें अनेक कष्ट सहन करते हुए केवल इसी आशामें प्राण-धारण कर रहे हैं कि श्रीकृष्ण आयेंगे। भक्तवत्सल श्रीहरिको ऐसे भक्तोंके निमित्त ही आनन्द-रसभूमि-व्रजका चिरत्याग करके मथुरा जाना पड़ा। कंसका वध करके गोविन्दने काराक्लिष्ट वसुदेव-देवकीको मुक्त किया, राजसिंहासनपर कंसके पिता उग्रसेनको पुनः अभिषिक्त किया। किंतु कारागारसे मुक्ति दिलाने मात्रसे माता-पिताके प्रति पुत्रका कर्तव्य समाप्त नहीं हो गया। उनके संग छोटे बच्चेकी तरह रहकर उनको अतृप्त वात्सल्य स्नेहधाराका आस्वादन कराना होगा। उधर वृद्ध उग्रसेनमें राज्य-कार्य-परिचालनकी योग्यता एवं सामर्थ्य नहीं है। अतः समस्त कार्यभार श्रीकृष्णको ही वहन करना होगा। शृंखलाहीन राज्यके पुनर्गठनका गुरुदायित्व भी श्रीकृष्णके कंधोंपर है। ऐसी अवस्थामें कंसवध करनेके बाद ही व्रजके धीर-समीरयुत वातावरणमें प्रत्यावर्तन श्रीकृष्णको शोभनीय नहीं लगा। भक्तवत्सल लोकशिक्षागुरु श्रीकृष्ण इन्हीं कारणोंसे मथुरा छोड़कर व्रज नहीं जा सकते।

राजा कंसकी दो पत्नियाँ थीं—अस्ति और प्राप्ति। विधवा होनेके बाद वे अपने अत्याचारी पिता राजा जरासंधके यहाँ अपने पीहर चली गयीं। दोनों बहिनोंने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे अपने पिताको श्रीकृष्णके विरुद्ध नमक-मिर्च लगाकर खोटा-खरा—मिथ्या दोषारोपण करते हुए अपने पतिकी हत्याकी

कहानी सुनायी। कौन ऐसा देहधारी मनुष्य होगा, जो ऐसा सुनकर क्रुद्ध न हो जाय? जरासंध भी अपने जामाताके वधकर्ता श्रीकृष्णके ऊपर क्रोधसे आग-बबूला हो उठा। श्रीकृष्णको उचित शिक्षा देनेके लिये जरासंधने अनेक बार मथुरापर आक्रमण किया। जरासंध मथुरापर आक्रमण-हेतु भयंकर उद्योग कर रहा है—यह श्रीकृष्णसे छिपा नहीं रहा। मथुरा राजधानी है, आक्रमणका प्रतिरोध करनेयोग्य यहाँ बहुत सैन्य-सामंत और दुर्ग आदि भी हैं। वृन्दावन छोटा गाँव है, न वहाँ सैन्य है, न कोई दुर्ग है। यदि श्रीकृष्ण वृन्दावन चले जायँ और जरासंध मथुरा छोड़कर व्रजपर आक्रमण कर बैठे तो उसका सफल प्रतिरोध करना असम्भव हो जायगा। फलस्वरूप गोप-बस्ती नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। इस दुःखमय परिणामके विषयमें सम्यक् ज्ञान होते हुए भी श्रीकृष्ण फिर व्रजवनकी तरफ किस प्रकार जा सकते हैं? नया प्रश्न उठता है, यदि बीच-बीचमें जाते-आते रहे तो क्या हानि है?

बार-बार आवागमनके फलस्वरूप यदि जरासंधको यह मालूम पड़ जाता कि वृन्दावन श्रीकृष्णका प्रिय स्थल है, तो वह केवल श्रीकृष्णको मानसिक कष्ट पहुँचाने-हेतु ही वृन्दावनपर निश्चय ही आक्रमण कर देता। अतएव 'व्रजभूमि कृष्णकी प्रिय क्रीडास्थली है'—यह बात जितनी अप्रकाशित रह सके उतना ही भला है। नन्दराजको भी भलीभाँति ज्ञात है कि जरासंध कृष्णपर कुपित है। कृष्णके व्रज-आगमनपर जरासंधके कोपानलसे व्रजकी रक्षा करना कितना दुष्कर कार्य है—यह बात नन्दराज अनुभव न करते हों, ऐसी बात नहीं है। मथुराके यादवगण योद्धा हैं, वृन्दावनके ग्वाले निरीह हैं—नन्दराज यह बात अच्छी तरह

जानते हैं। अधिक क्या, वसुदेव-देवकीका आदेश लिये बिना श्रीकृष्ण कहीं भी नहीं जा सकते थे। इतने दीर्घकालके बाद अपने प्राणोंके आधारको पुनः प्राप्त करनेके बाद वे अब उसे अंकच्युत नहीं करना चाहते। किसी आवश्यक कार्य-हेतु कहीं जाना चाहें भी तो इस विश्वासपर कि वे शीघ्र ही लौट आयेंगे, वे कष्ट सहन करके भी उनको जानेकी आज्ञा दे देते हैं, किंतु वृन्दावन जानेका प्रसंग उठनेपर वसुदेव-देवकी कोई अनुमति नहीं देते, वरन् केवल अश्रु-विसर्जन करने लगते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वृन्दावन जानेपर अपना यह कृष्ण फिर लौटकर नहीं आयेगा। कोई कार्य हो तभी तो उसकी समाप्ति भी होती है। मनुष्य कहीं किसी कार्यवश जाय तो कार्य-समाप्तिपर लौट भी आना चाहिये। जो कार्य है ही नहीं, केवल प्रीतिरसका आस्वादन है, उसकी तो कोई समाप्ति कहीं होनी भी नहीं है। उस रसमें निमग्न हो जाय तो फिर कोई कभी भी नहीं लौट सकता। व्रज श्रीकृष्णकी कर्मभूमि नहीं है—रसभूमि है; अतः वसुदेव-देवकीकी यह आशंका कोरी कल्पना नहीं है।

यदि माता-पिताकी अनुमति लिये बिना ही कृष्ण वृन्दावन चले जायँ तो उससे नन्द-यशोदा आनन्दित नहीं होंगे। कारण, यदि वसुदेव-देवकी 'हा कृष्ण!' कहकर दीर्घ निःश्वास त्याग करेंगे तो उससे नन्दनन्दनका अकल्याण होगा, इस आशंकासे नन्द-यशोदा अत्यन्त उद्विग्न होंगे। व्रजवासी केवल कृष्णको ही नहीं चाहते, वे चाहते हैं—कृष्णका कल्याण।

तो फिर लुक-छिपकर दो-एक दिन व्रजमें जाकर, व्रजवासियोंको अपनी थोड़ी झलक दिखा आते—इसमें क्या क्षति है?

क्षति है; अत्यधिक इस प्रकार उनका क्षणिक दर्शन पाकर तो व्रजवासियोंकी विरहाग्नि शान्त होनेकी अपेक्षा और अधिक

प्रज्वलित ही होगी। क्षुद्र प्रदीप हवामें बुझ जाता है, दावानल वायुसे जोर पकड़ता है। अच्छा, तो फिर व्रजवासियोंको राजधानी मथुरामें लाकर दोनों संसार एकत्र करके वास करें तो क्या आपत्ति है?

इससे तो एक अद्‌भुत रस-संकट उपस्थित हो जायगा। मथुरामें श्रीकृष्णका है—क्षत्रियावेश, क्षत्रियवेष। वृन्दावनमें अधिकतर उनका है गोपावेश और गोपवेष। मथुरामें कृष्ण हैं वृष्णियोंके 'परदेवता'— '**वृष्णीनां परदेवता**', वृन्दावनके गोपोंके वह हैं 'स्वजन'—'**गोपानां स्वजनः**'। यादवगण श्रीकृष्णकी चरणरज मस्तकपर धारण करते हैं, गोपबालक, श्रीकृष्णके कंधेपर चढ़कर 'हाँ रे, अरे' कहकर जल्दी-जल्दी चलनेके लिये ताड़ना करते हैं। जननी देवकी श्रीकृष्णका प्रणाम ग्रहण करनेमें संकोच करती हैं, माता यशोदा कृष्णको रज्जुसे बाँधकर उन्हें धमकाती हैं। पिता वसुदेव पुत्रका आलिंगन करनेमें मनमें संकोच करते हैं, बाबा नन्द अपनी चरण-पादुका श्रीकृष्णके मस्तकपर रखकर निश्चिन्त-मनसे व्रजवनमें गोचारण करते हैं। मथुरावासी प्रजा श्रीकृष्णके पदप्रान्तमें बैठकर प्रसाद पानेको आतुर रहती है, व्रजवासी श्रीकृष्णके गलेमें अपना हाथ डाले उन्हें अपना उच्छिष्ट खिलाकर आनन्दसे नृत्य करते हैं। ऐश्वर्य और माधुर्य अवगाही प्रीतिरसकी इन दोनों धाराओंको एक भूमिकामें लाकर उनकी रस-मर्यादाकी रक्षा करना स्वयं रसराजके लिये भी असम्भव है। पुष्प वनमें ही सुन्दर लगता है, वृन्त-च्युत करके घरमें लाते ही वह मुरझा जाता है। व्रजरस व्रजकुंजमें ही मधुमय है, राजधानीमें आते ही वह नीरस और श्रीहीन हो जायगा।

दूत-प्रेषणकी सार्थकता

समस्त व्रजवासी श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल हैं। श्रीकृष्ण भी व्रजके विरहमें मर्माहत हैं, व्रजवासियोंकी विरह-व्याकुलताके बारेमें सोचकर तो और अधिक व्यथित हैं। जिस उपायसे यह विरह-वेदना बिन्दुमात्र भी उपशमित हो सके, ऐसा कोई सुष्ठु उपाय दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। यदुनाथकी मथुरासे अनुपस्थिति अभी सम्भव ही नहीं है। व्रजवासियोंका भी व्रजका वातावरण छोड़कर रहना सरल नहीं है। इन दोनों असम्भावनाओंका मध्यवर्ती केवल एक ही वैकल्पिक मार्ग खुला है—बीच-बीचमें संदेश भेजते रहना। अत्यन्त बुरेमें यह जरा-सा अच्छा है, मरुभूमिके बीच पथिकोंको छायाके आश्रयदाता वृक्ष-सदृश। संदेश लाने-ले जानेके लिये भी योग्य व्यक्तिकी आवश्यकता है। मथुरा-स्थित श्रीकृष्णके प्रियजनोंमें शीर्षस्थानीय हैं—श्रीमान् उद्धव। अतएव योग्यतम व्यक्तिको ही भेजा जा रहा है।

श्रीमान् उद्धव श्रीकृष्णके चाचा देवभागके आत्मज हैं। उद्धव बाल्यावस्थासे ही श्रीकृष्ण-भक्त हैं। जब उनकी वयस् केवल पाँच वर्षकी थी, तभीसे वह श्रीकृष्ण-पूजामें दत्तचित्त हैं। श्रीकृष्णको भोजन कराये बिना वह अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। बाल्यकालमें जब यह बालक श्रीकृष्णके ध्यानमें बैठता तो उसकी बाह्यस्मृति लुप्त हो जाती। भोजनके लिये जब उसकी माँ उसे आवाज देती तो कोई प्रत्युत्तर ही नहीं मिलता। भक्तोंने उद्धवको पदवी दी है—'हरिदासवर्य' की। श्रीशुकदेव उद्धवको कहते हैं—'बुद्धिसत्तम'। मनुष्य-समाजके उद्धव रत्नराज हैं। वह साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य हैं; अतएव

पाण्डित्यमें अतुलनीय हैं। एकाधारसे वह श्रीकृष्णके मन्त्री, सखा, दयित सभी हैं। सभी यादवगण उद्धवके प्रति असीम श्रद्धा करते हैं, उनकी बात कभी कोई काटता नहीं। कारण, सभी जानते हैं कि उद्धव कभी भूल नहीं करते। उद्धव महाराजके समग्र जीवनमें भ्रम-प्रमाद कहीं लेशमात्रका भी नहीं है। उद्धवका विचार-कौशल अति सुतीक्ष्ण है, उनका शास्त्रानुशीलन अति सुनिपुण है। कितना विशाल और उदार है उद्धवका हृदय, कितनी गम्भीर है उनकी श्रीकृष्ण-भक्ति। उद्धवकी बराबरी नहीं है। उद्धवकी देहका वर्ण, अंगोंका सौष्ठव, अंगचेष्टा, गतिविधि, मुद्राभंगी सभी कुछ एकदम श्रीकृष्णके अनुरूप हैं। सर्वतोभावेन, श्रीकृष्णके सदृश ही हैं। श्रीकृष्णके प्रसादी द्रव्यके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य उद्धव ग्रहण ही नहीं करते। उनकी देहपर जो भी वसन, भूषण, माला, चन्दन प्रभृति हैं, वे सब एक बार श्रीकृष्णद्वारा धारण करके परित्यक्त हुए हैं। यानी उनके द्वारा प्रसादीकृत हैं। प्रसादी वस्त्रालंकारसे विभूषित उद्धवको हठात् देखनेसे श्रीकृष्णका ही भ्रम हो जाता है। जहाँ श्रीकृष्णका स्वयंका गमन नितान्त आवश्यक हो और वहाँ प्रतिनिधिस्वरूप किसी अन्यको भेजना ही पड़े तो एकमात्र उद्धव ही सर्वतोभावसे योग्य व्यक्ति हैं।

कंस-वधके पश्चात् श्रीकृष्ण यज्ञोपवीत धारण करके गुरुगृह चले गये थे। गुरु-आश्रममें अत्यन्त अल्पकालमें ही चौंसठ प्रकारकी विद्याओंमें सम्यक्-रूपसे पारंगत होकर वे अभी-अभी मथुरा लौटे हैं। इससे पूर्व वे नित्यप्रति श्रीवृन्दावनके संवादका आदान-प्रदान किया करते थे। नन्दराज भी भृत्यके द्वारा गोपालके लिये नित्य दूध और माखन भेजा करते। इस

भृत्यके माध्यमसे ही व्रजका संवाद मथुरा और मथुराका संवाद व्रजमें कुछ-कुछ पहुँच ही जाता। किंतु श्रीकृष्णके गुरुकुल पधारनेके बादसे तो संवादके आदान-प्रदानकी यह सामान्य-सी प्रक्रिया भी बंद हो गयी।

गुरुकुलसे लौटनेके बादसे ही श्रीकृष्ण वृन्दावनकी चिन्तामें नितान्त व्याकुल हो रहे हैं। प्रभातकालमें जब वे यमुना-स्नानके लिये जाते हैं तब तो यह वेदना और शतगुणी बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण राजसभामें बैठकर राज्य-कार्य सुचारु रूपसे नहीं कर पा रहे हैं। एक दिन राज्य-कार्य बीचमें ही असमाप्त छोड़कर वे उठकर चले गये और उद्धवको इशारेसे अंदर महलमें बुलाया। अपने व्यक्तिगत प्रकोष्ठके एकान्तमें जाकर उद्धवका हाथ अपने हाथमें ग्रहण करते हुए '**गृहीत्वा पाणिना पाणिम्**', तीव्र-वेदनासे व्याकुल श्रीकृष्ण गद्गद-कण्ठ हो गये। उस समय श्रीकृष्णकी मुखच्छवि थी वर्षणोन्मुख जलधरकी भाँति। उद्धवने भी इस प्रकारका दृश्य इससे पहले कभी नहीं देखा था। भगवान्‌के लिये तो सारा संसार व्याकुल रहता है, किंतु भगवान् इतने व्याकुल किसके लिये हो रहे हैं? श्रीमान् उद्धवको व्रज भेजनेमें श्रीकृष्णके मनमें एक और भी गूढ़ हेतु छिपा हुआ है।

वर्षाकालमें जब नदीमें जलकी मात्रा बढ़ती है तो नदी उसमेंसे थोड़ा जल तटवर्ती क्षेत्रोंमें फेंक देती है। इससे जल-भार कुछ हलका हो जाता है। ऐसे ही विरहव्यथासे हृदय भर आनेपर मनुष्य अपने पार्श्वस्थ प्रियजनोंको व्यथा-कथा सुनाकर अपनी वेदनाका किंचित् उपशमन करनेके लिये प्रयास करता है। श्रीकृष्ण व्रजके विरहसे व्याकुल हो रहे हैं, किंतु व्रजकी

बात कहें किससे? सारी मथुरामें उन्हें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं दीख रहा जो व्रजकी बात हृदयसे अनुभव कर सके। इसीलिये वह चाहते हैं कि उद्धव व्रज जाकर थोड़े दिन वहाँ रहकर व्रजभावसे भावित होकर मथुरा लौटें। तब श्रीकृष्ण उन्हें अपने प्राणोंकी व्यथा बता सकेंगे और उससे विरह-वेदना कुछ हलकी भी पड़ सकेगी।

उसके बाद तो उद्धवके संस्पर्श और प्रभावसे मथुराके अन्यान्य भक्तजन भी व्रजके सम्बन्धमें कुछ अनुभवी हो जायँगे। फलस्वरूप मथुरामें भी व्रजके विषयमें बातचीत और आलोचना करनेका प्रचुर सुयोग एवं सुविधा मिल जायगी। अधिक क्या, उद्धवके लिये भी वृन्दावन-दर्शन करना अत्यन्त आवश्यक है। व्रज-दर्शन किये बिना भक्तजीवनकी चरम सार्थकता प्राप्त ही नहीं होती। व्रजके बाहर सारे संसारमें उद्धवके बराबर दूसरा कृष्ण-भक्त नहीं है। यह बात सही तो है, किंतु व्रजजनोंकी प्रेमाभक्तिकी तुलनामें उद्धव कितने छोटे पड़ जाते हैं, यह बात उद्धवकी समझमें आनी आवश्यक है। और, उद्धवके माध्यमसे जगत्‌के समस्त जीवोंको भी इसका ज्ञान होना आवश्यक है।

लीला-रसिक वक्ता श्रीशुकदेवजी व्रजका वर्णन समाप्त कर मथुरामें आ गये हैं। अब वे कह रहे हैं मथुराकी बात। व्रजके विषयमें कहा है व्रजमें रहकर ही। अब एक बार मथुरामें रहते हुए, मथुराकी आँखसे, व्रजदर्शन करना श्रीशुकदेवजीके लिये भी आवश्यक है, भागवत-श्रोताओंके लिये भी आवश्यक है। उद्धवको व्रज-प्रेषणका अर्थ ही है— मथुरा-भूमिद्वारा व्रज-दर्शन।

किसी-किसी वस्तुको अत्यन्त निकटसे देखा जाय तो

वह अच्छी तरह नहीं दीखती, थोड़ी दूरसे देखनेपर ही उसकी प्राकृत स्वरूपी अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि प्रायः महान् व्यक्तियोंकी महिमा उनके सम-सामयिक व्यक्ति अनुभव नहीं कर पाते। उनकी जीवन-कथा उनके शरीरान्तके बाद ही प्रकाशित होती है। कभी-कभी तो शताब्दियों-बाद मनुष्य उनके जीवनकी घटनाओंको अत्यन्त विस्मयाविष्ट होकर सुनते-कहते हैं। कालगत दूरत्वके सम्बन्धमें जो बात है, स्थानगत एवं भावगत दूरत्वके सम्बन्धमें भी वही बात लागू होती है। कभी-कभी लोग अपने स्वदेशको पहचानते हैं विदेश जाकर। वृन्दावनसे मथुराका स्थानगत एवं कालगत दूरत्व कोई अधिक नहीं है, किंतु भावगत दूरत्व बहुत है।

व्रजधाम माधुर्यकी भूमि है। मथुराधाम ऐश्वर्यका देश है। आज भागवतकार श्रीशुकमुनि मथुरासे व्रजदर्शन करेंगे। ऐश्वर्य-भूमिसे माधुर्यका आस्वादन करेंगे। उद्धवके नेत्रों और मनके द्वारा व्रजके भावका आस्वादन करेंगे। यही उद्धव-संदेशका गूढ़ तात्पर्य है। सुतरां आज उद्धवको व्रजवन-प्रेषणसे श्रीकृष्णको लाभ है, उद्धवको लाभ है, मथुरावासियोंको लाभ है, श्रीशुकमुनिको लाभ है; जगत्के समस्त जीवोंको इस महान् लाभकी कथा सुननी ही होगी।

प्रस्तुतिका आन्तरिक हेतु

उद्धवको अपने अत्यन्त समीप बैठाकर उनका दक्षिण कर अपने दोनों हाथोंमें मींचते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त विह्वल होकर कहने लगे—

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३)

श्रीभगवान् श्रीउद्धवको 'सौम्य' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। उद्धवका मुखमण्डल ही शान्तरसमय स्निग्धताकी मूर्ति है। अत्यन्त अशान्त अवस्थामें भी कोई उद्धवजीका दर्शन कर ले तो उसके चित्तमें विपुल शान्तिका उदय हो जाता है। दुःख तथा तापके समय दूसरेको सान्त्वना देनेयोग्य सर्वभावेन योग्य व्यक्ति उद्धव-सरीखे ही हो सकते हैं।

'सौम्य' सम्बोधन करके श्रीकृष्णने उद्धवको व्रज जानेका आदेश दिया—'उद्धव! तुम व्रजमें जाकर हमारे माता-पिता व्रजेश्वर-व्रजेश्वरीको जिस प्रकार भी आनन्द-प्राप्ति हो, वैसी व्यवस्था करो।' माता-पिताके विषयमें श्रीकृष्णने 'हमारे माता-पिता'—(**पित्रोः नः**) शब्द प्रयोग किये हैं। वस्तुतः नन्द-यशोदा उद्धवके माता-पिता नहीं हैं फिर भी '**नः**' ऐसा (बहुवचन) शब्द प्रयोग करके श्रीकृष्णका आशय उद्धवको यह समझानेका है कि तुम जब मेरे प्रिय सखा हो, तो मेरे माता-पिता तुम्हारे भी माता-पिता ही हैं। इस कथनसे नन्द-यशोदापर उद्धवकी श्रद्धा और भी गभीरतर हो गयी।

अनन्त विश्वमें वृन्दावनके माता-पिताके वात्सल्य-स्नेहकी

उपमा नहीं है। श्रीकृष्णके अति महान् ऐश्वर्योंमें भी यह क्षमता नहीं है कि नन्द-यशोदाके हृदयमें स्थित श्रीकृष्ण-सम्बन्धी पुत्र-बुद्धिको क्षुण्ण करके उनमें ईश्वर-बुद्धि जगा दे। ऐश्वर्य ही भगवत्ता है। वह भगवत्ता भी नन्द-यशोदाके वात्सल्य-महत्ताके सामने तुच्छ लगने लगती है। उन्होंने पुत्रका केवल लालन-पालन ही नहीं किया है, उसकी ताड़ना, भर्त्सना, बन्धनतक भी किया है। ईश्वरत्वकी अपेक्षा भी गरीयसी यह स्नेहगाढ़ता अतुलनीय है।

श्रीकृष्णको भलीभाँति ज्ञात है कि नन्द-यशोदा कृष्ण-विरह एक क्षण भी सहन नहीं कर सकते। फिर भी आज इतने दिन हो गये, वे उन्हें छोड़कर मथुरामें रह रहे हैं। उनकी निदारुण करुण एवं हृदय-विदारक अवस्थाकी स्मृतिसे श्रीकृष्णको जो मर्मान्तक वेदना अनुभूत हुई, उसीको प्रकट करते हुए वे उद्धवको कह रहे हैं कि उनके हृदयमें किंचित् सुखानुभूतिकी व्यवस्था करो, किसी भी प्रकारसे प्रसन्नता लाओ—'**प्रीतिमावह।**' श्रीकृष्ण जब मथुरा आये थे, तब बाबा नन्द भी उनके साथ-साथ आये थे। कंस-वधके अनन्तर श्रीकृष्णने पिता नन्दको इन शब्दोंसे विदा किया था—

'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥'

(श्रीमद्भा० १०। ४५। २३)

'पिताजी! अपने सुहृद् यादवोंका सुखसम्पादन कर फिर व्रजके आत्मीय स्वजनोंको देखने आऊँगा।' पुत्रके इस प्रतिश्रुत-वाक्यको हृदयमें धारण करके नन्द-यशोदा घोर दुःखके बीचमें भी धैर्य धारण किये हुए हैं। श्रीकृष्णका स्वयं व्रज जाना तो अभी सम्भव नहीं है, इसीलिये उद्धवको

नन्द-यशोदाके प्रति ऐसे प्रबोध-वाक्योंसे सान्त्वना देनेके लिये कह रहे हैं, जिनसे उनके व्याकुल चित्तोंमें किंचित् आनन्द प्राप्त हो।

माता-पिताके सम्बन्धमें निर्देश देनेके पश्चात् श्रीकृष्ण व्रजकी गोपिकाओंके सम्बन्धमें कह रहे हैं। गोपियोंका हृदय मेरी विरहजनित तीव्र पीड़ा (**मद्वियोगाधिम्**)-से व्यथित हो रहा है, उस पीड़ाको मेरे संदेशसे दूर करना। '**मत्संदेशैः**'—'मेरे संदेशों' शब्दके नानाविध अर्थ हो सकते हैं। मैं ही तुम्हारे द्वारा अपना यह संदेश भेज रहा हूँ, अतः यह हुआ मेरा संदेश! अथवा मैं स्वस्थ हूँ—यह बताना भी हुआ 'मेरा संदेश'। अथवा मैं इधरके कार्य निपटाकर शीघ्र व्रज लौटूँगा—यह है, 'मेरा संदेश'। अथवा जिस प्रकार गोपियाँ मेरे लिये व्याकुल हैं, मैं भी उनके लिये उसी प्रकार व्याकुल हूँ—यह है 'मेरा संदेश'। व्रजके विरही प्रियजनोंके लिये मेरा संदेश ही परम सान्त्वना-वाक्य है।

नन्द-यशोदाके स्नेहके सम्बन्धमें प्रायः सभी थोड़ा-बहुत जानते ही हैं। उद्धव भी अवश्य जानते ही होंगे, किंतु व्रजदेवियोंके विषयमें बहुतोंको मालूम ही नहीं है, इसीलिये उनकी बात निज श्रीमुखसे ही उद्धवको थोड़े विस्तारसे ही बता रहे हैं। इस सुयोगसे श्रीशुकदेवको भी गोपियोंके कृष्णानुरागकी चर्चा प्राणवल्लभके निज श्रीमुखसे ही सुनने-सुनानेका अवसर मिला—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने श्रीअर्जुनको सर्वगुह्यतम-संवादमें कहा है—'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**' जिन्होंने अपना सम्पूर्ण मन श्रीकृष्णको अर्पण कर दिया है, स्वयं अपना कोई मन नहीं है, वही मन्मना है। इसका दृष्टान्त संसारमें खोज पाना सुदुर्लभ है—'**सुदुर्लभा भागवता हि लोके।**' गीतामें इस चरम एवं परम श्लोकका दृष्टान्त मूर्त नहीं हो पाया, एक यह त्रुटि रह गयी; अतः नारदके उपदेशसे और वेदव्यासकी साधनासे भागवत प्रकट हुआ। गीतामें भक्तोंके जो-जो लक्षण बताये हैं, भागवतमें उनका रूपायन हुआ है। '**मन्मना**' भक्त कौन है, आज श्रीमुखसे श्रीहरि स्वयं उद्धवको बता रहे हैं।

व्रजके गोपीजन ही '**मन्मनस्काः** तथा **मत्प्राणाः**' हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं। उनके यावतीय मानस-संकल्प श्रीकृष्णके प्रीति-सम्पादनमें ही पर्याप्त एवं सार्थक हैं। इसी हेतु गोपियाँ अपनी देह एवं सर्वप्रकारकी दैहिक वस्तुएँ श्रीकृष्णके निमित्त सर्वतोभावसे परित्याग करनेमें समर्थ हैं—'**त्यक्तदैहिकाः।**' गीताका सर्वगुह्यतम मन्त्र व्रजदेवियोंमें ही जीवन्त एवं मूर्त हुआ है, इसका साक्ष्य आज गीताके वक्ता स्वयं ही उपर्युक्त वचनोंसे दे रहे हैं।

'**मन्मनस्काः**' और '**मत्प्राणाः**' पदोंकी और भी गम्भीर व्यंजना अभिप्रेत है। जिन व्रजदेवियोंमें मेरा मन सर्वदा स्थित है—वे ही '**मन्मनस्काः**' हैं। श्रीकृष्ण जिनके प्राण हैं, वे भी श्रीकृष्णके प्राण ही होंगी, अतः '**मत्प्राणाः**' हैं। गीता (६।३०)-में कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

'जो मुझे सर्वत्र उपस्थित देखता है और मेरेमें सबको देखता है, मैं उसकी दृष्टिसे कभी अदृश्य नहीं होता, न वह कभी मेरी दृष्टिसे ओझल होता है।' **'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।'** वे मेरे अतिरिक्त किसी दूसरेको नहीं जानतीं, न मैं उनके सिवा अन्यको जानता हूँ। ***'ना मैं देखूँ और को ना तोहिं देखन देउँ।'***—इसी भावको व्यंजनामें कहा गया है।

श्रीकृष्ण उद्धवको जो कुछ कह रहे हैं, उसकी मूल व्यंजना यह है कि व्रजगोपियाँ मेरे प्राण हैं। उन्हें परित्याग करके मैं जो मथुरामें हूँ, वह मात्र रहना ही है। किसी भी कार्यमें मुझे उत्साह या आनन्द नहीं है। श्वास-प्रश्वास ग्रहण-त्यागकी तरह ही केवलमात्र कर्तव्य-बोधसे समस्त कर्म कर रहा हूँ। किंतु मेरे मन और प्राण तो व्रजमें ही पड़े हैं। यदि पूछो कि गोपियोंके लिये मेरी इस प्रकारकी अवस्था क्यों है, तो सुनो, उसका कारण भी बता दूँ—**'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥'** (श्रीमद्भा० १०। ४६। ४) जिन्होंने अपना लौकिक अच्छा-बुरा, धर्म-अधर्म सब कुछका मेरे लिये विसर्जन कर दिया है, उनको मैं सर्वदा अपने हृदयमें धारण किये रहता हूँ। मुझे जो जिस प्रकार भजता है, उसका मैं भी उसी प्रकार भजन किया करता हूँ—यह मेरा स्वभावगत धर्म है। गोपियाँ मेरे विरह-तापमें अत्यन्त व्यथित हैं। इसके उत्तरमें उद्धव कह सकते हैं कि जिन्होंने अपना मन-प्राण तुम्हें समर्पित कर दिया है और तुम्हारे लिये सब कुछ त्याग कर दिया है, उन्हें तो तुम्हारी प्राप्ति हो ही चुकी है, फिर उनके लिये चिन्ता किस बातकी? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ५)

हे मेरे अंगतुल्य प्रिय उद्धव! सुनो। गोपियाँ कभी मुझे क्षणार्धके लिये भी नहीं देख पातीं तो उन्हें वह क्षण सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होता है, **'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥'** (१०। ३१। १५) मेरे दर्शन करते समय पलकें झपकनेके कारण जो जरा-सा व्यवधान पड़ता है, उसे सहन न कर सकने-हेतु गोपियाँ नयनोंके निमेष-निर्माता विधाताकी निन्दा करतीं और उसे कोसती थीं। उन्हीं गोपियोंका परित्याग कर आज मैं कितने दीर्घकालसे उनसे कितनी दूरीपर आ बसा हूँ। जब गोपियाँ अन्तर्मना रहती हैं, तब मुझे अपने अन्तरमें प्राप्त करके मेरेमें मग्न रहती हैं। किंतु वे तो योगी नहीं हैं, वे हैं भक्त। भक्तगण मुझे केवल अन्तरमें प्राप्त करके ही तृप्त नहीं होते, सेवा-हेतु बाहर भी पानेकी इच्छा रखते हैं। जब वे बाह्यदशामें लौटती हैं तो मेरा साक्षात् दर्शन न पाकर वे अपने स्मृति-पथपर मेरे रूप और गुणोंका स्मरण करती हुई मेरे विरहमें अत्यन्त विह्वल हो जाती हैं। फलस्वरूप उत्कण्ठाकी तीव्रतासे वे क्षण-क्षण मूर्च्छादशाको प्राप्त होती रहती हैं।

उद्धव! गोपियोंका अधिकांश समय ही मूर्च्छादशामें बीतता है। वस्तुतः मूर्च्छा ही उनके प्राणोंकी रक्षा करती है; कारण, उस अवधिमें उन्हें मेरी अन्तर-प्राप्ति होती है। उनकी जैसी अवस्था हो गयी है, उसे अनुमान करके मैं अच्छी तरह समझ पा रहा हूँ कि वे अधिक दिनोंतक

जीवित नहीं रह सकतीं। मेरे विरहमें वे अपने संतप्त प्राणोंको अत्यन्त कष्टसे धारण किये हुए हैं।

'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ६)

'**कथञ्चन**' यानी 'किसी भी प्रकारसे'—कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण वृन्दावनसे अक्रूरके रथपर चढ़कर आते समय 'मैं शीघ्र लौट आऊँगा'—यह आशा जो बँधा आये थे, उसी आशापर भरोसा करके वे किसी भी तरहसे प्राण धारण किये हुए हैं। श्रीकृष्ण सत्य-संकल्प होकर भी अपने वचनका पालन नहीं कर पाये, इस बातको उद्धव कहते हुए मानो सकुचा रहे हैं; इसीलिये कह दिया—'**कथञ्चन**' यानी 'किसी भी प्रकारसे'। किंतु अन्तमें सोचा कि इस बातको गुप्त रखना समीचीन नहीं होगा तो बोले—'**प्रत्यागमनसंदेशैः**'—अर्थात् 'मैं फिर वृन्दावन लौटकर आऊँगा'—इस आश्वासन-वाणीपर विश्वास स्थापित करके गोपियाँ अत्यन्त कष्टसे किसी प्रकार जीवन धारण किये हुए हैं।

व्रजवधूगण हैं परवधू। वे श्रीकृष्णके प्रति इतनी अधिक अनुरक्त हैं और श्रीकृष्ण भी उनके प्रति इतने निविष्टभावसे आकृष्ट हैं—यह संवाद उद्धवको बता तो दिया, किंतु इससे मानो वक्ता जरा असुविधामें पड़ गये। गोपी-कृष्णके तात्त्विक सम्बन्धका स्पष्ट रूपसे ज्ञान न होनेपर भक्तके चित्तपर इस संवादसे विपरीत भावका छायापात हो सकता है (जैसा कि श्रीशुकदेवजीसे भागवत सुनकर राजा परीक्षित्‌को हुआ था)। इसीलिये श्रीकृष्ण उद्धवको व्रजबल्लवियोंके साथ अपने स्वकीय तात्त्विक सम्बन्धके विषयमें बता रहे हैं—

'बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥' (श्रीमद्भा० १०। ४६। ६)

व्रजबल्लवीगण मेरी ही आत्मा हैं। तत्त्व-दृष्टिसे हम सब एक ही आत्मा हैं। हमारा देहभेद मात्र लीला-आस्वादनके निमित्त है। मैं श्रीकृष्ण, परमात्मास्वरूप-परब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा घनीभूत मूर्ति हूँ और गोपियाँ मेरी अन्तरंगा शक्ति हैं। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें कोई भेद नहीं है, वे एक-दूसरेसे पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार मैं और गोपिकाएँ भी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। तत्त्वत: हम अभिन्न हैं। जो कुछ भी भेद दृष्ट हो रहा है, वह केवल प्रेमरस-निर्यासका आस्वादन कराने-हेतु योगमायाद्वारा सृष्ट है। कविराज गोस्वामीजीकी निरुपम भाषामें पढ़िये—

मो विषये गोपीजन उपपति भावे।
योगमाया करिवेन आपन प्रभावे॥
आमि हो ना जानि ना जाने गोपीजन।
दोहार रूप गुणे नित्य दोहार हरे मन॥

श्रीकृष्णकी ऐसी गम्भीर अर्थपूर्ण अथच वेदनाभरी बातें सुनकर उद्धव वृन्दावन जानेके लिये प्रस्तुत हुए।

व्रजकी शुभ यात्रा

श्रीकृष्णका आदेश शिरोधार्य कर श्रीमान् उद्धव व्रजयात्राके लिये प्रस्तुत हुए। सखाका अंगस्पर्श करके श्रीउद्धव बोले—'प्रिय, तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ। यन्त्री जिस प्रकार यन्त्रमें अपने मनोऽनुकूल स्वर-झंकार उत्पन्न कर देता है, तुम भी उसी प्रकार मेरे द्वारा अपना मनोऽनुकूल कार्य सम्पादन करा लेना।'

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण उद्धवको साथ लेकर दादा बलरामके पास गये। श्रीकृष्ण अपने अग्रजसे बोले—'अपना संवाद पहुँचानेके लिये उद्धवको व्रज भेज रहा हूँ।' बलरामजीने उनके कथनका सानन्द अनुमोदन किया। उद्धवने प्रणाम किया। मस्तकपर हाथ रखकर बलदेवजीने आशीर्वाद दिया।

फिर श्रीकृष्ण उद्धवको साथ लेकर माता रोहिणीके पास पहुँचे। माँको अपने मनका संकल्प बताया। व्रजकी स्मृति आते ही माँ रोहिणीका मुखमण्डल रक्तिम हो उठा। अश्रुगद्गद कण्ठसे बोलीं—'प्रतिनिधि भेजकर माँ यशोदाको सान्त्वना दोगे? बेटे, यह भी सम्भव है क्या?' 'सब कुछ तो भलीभाँति जानती हो माँ! और उपाय ही क्या है?' कहते-कहते श्रीकृष्णका गला रुँध गया। माँ रोहिणीके सम्मुख नतजानु होकर उनकी पदरज मस्तकपर लगायी उद्धवने। माँ रोहिणीने नतमस्तक उद्धवके मस्तकको अपने स्नेहपूर्ण श्रीकरसे स्पर्श कर आशीर्वाद दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने निजांगसे वस्त्राभूषण और पुष्पमाला उतारकर उनसे उद्धवको निज श्रीहस्तसे सजा दिया। उद्धवके अंग-प्रत्यंग अपने प्रिय सखाका स्नेहभरा आदर और मधुभरा स्पर्श पाकर आनन्दातिरेकसे अवसन्न हो गये।

उद्धव सानन्द मनसे ही कृष्ण-कार्यहेतु व्रज जा रहे हैं, किंतु हृदयके गम्भीर तलदेशमें थोड़ा दुःख भी हो रहा है, यह सोचकर कि जितने दिन इस कार्य-हेतु मथुरासे बाहर रहेंगे, उतने दिन श्रीकृष्णके संग-सुख और सेवा-सुखसे वंचित रहेंगे। अन्तर-देवता श्रीकृष्ण प्रिय उद्धवके अन्तरकी बात समझकर बोले—व्रजमें जानेसे मेरे संगसे वंचित रहोगे, ऐसी आशंका मत कर बैठना, उद्धव! मैं तो सदा-सर्वदा अनादिकालसे व्रजमें ही हूँ, व्रजको त्यागकर—'**वृन्दावनं परित्यज्य**'—कहीं नहीं जाता—यहाँ तो मेरा एक अंश पड़ा हुआ है, मैं तो व्रजवनमें ही हूँ। व्रज मेरा मुख्य निवास है। तुम मुझसे बिछुड़ने नहीं जा रहे हो—अपितु मुझे प्राप्त करने ही व्रज जा रहे हो। मेरी सेवाके विषयमें सोच कर रहे हो तो सुनो, केवल मेरी सेवा ही मेरी असली सेवा नहीं है। मेरे प्रियजनोंकी सेवा ही मेरी प्रकृष्ट सेवा है। तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ प्रियजनोंकी सेवामें जा रहे हो। उद्धव! इसकी अपेक्षा बड़ी सेवा मेरी और नहीं हो सकती। प्रियकी सहानुभूतिपूर्ण वाणी सुनकर उद्धवके हृदयकी सभी वेदनाएँ विलीन हो गयीं।

उद्धवकी इच्छा है—कृष्ण-तीर्थकी पदयात्रा ही करें, कारण, यानद्वारा तीर्थयात्रा शास्त्रविधि-सम्मत नहीं है। किंतु पदयात्रामें जो अधिक समय लगेगा, वह श्यामसुन्दरको सहन नहीं हो रहा था। उद्धवके पृष्ठ-देशपर हाथ फेरते हुए श्रीकृष्ण बोले—'नहीं भाई उद्धव! तुम्हें रथसे ही जाना होगा।' कृष्णके आदेशसे रथ सजकर आ गया है। सारथि खाली रथ चला रहा है, कारण, जबतक श्रीकृष्ण बात

करते-करते उद्धवके साथ-साथ अग्रसर हो रहे हैं, तबतक उद्धव भी उनके साथ पैदल ही चले जा रहे हैं।

किस पथसे जाओगे, उद्धव? जानेके दो पथ हैं। मैं जो पथ बता रहा हूँ, उस पथसे जाओ, आराम भी रहेगा, पहुँचोगे भी शीघ्र। थोड़ी दूर यमुनाके किनारे-किनारे चले जाना, तत्पश्चात् उत्तुंग तीरान्तभूमिका त्याग कर देना—

'मुञ्चोत्तुङ्गां मिहिरदुहितुर्घोरतीरान्तभूमिम्।'

तीर्थराज ब्रह्मह्रदको दक्षिण-बाजू रखकर चले जाना **'मुञ्चासव्ये तीर्थराजम्'** सामने ही अन्नभिक्षास्थली दीख पड़ेगी। वहाँ ब्राह्मण देवताओंसे अन्न-भिक्षा माँगनेपर भी मुझे अन्न नहीं मिला था। इसलिये वे ब्राह्मण मेरे प्रिय सखाओंके अभी भी अप्रिय-भाजन बने हुए हैं; तथापि वे पूज्यजन हैं। उनके द्वारपर रथ खड़ा करके उन्हें प्रणाम करते जाना। याज्ञिक ब्राह्मण-पत्नियाँ निरन्तर मेरा गुण-कीर्तन करती रहती हैं—

'गायन्तीनां मदनुचरितं तत्र विप्राङ्गनानाम्।'

यदि तुम्हारे हृदयमें उनके दर्शन करनेकी इच्छा जाग्रत् न हो तो मैं कहूँगा कि तुम्हारा नयन-धारण ही वृथा है—

'आलोकाय स्पृहयसि न चेदीक्षणैर्वञ्चितोऽसि।'

फिर पुष्पोद्यानके बीचसे रथ ले जाना। उस वनमें ही मैं क्रीडा करते समय श्रीदामकी पृष्ठपर चढ़ बैठा था— **'श्रीदामानं सुभग डगरुडीकृत्य यत्राधिरूढः।'** सट्टिकग्राम-अतिक्रमण करके मेरी गोष्ठ-क्रीडाभूमिके बीचोबीचसे जानेवाले पथद्वारा चले जाना। गोष्ठांगणमें देख पाओगे—गोप-बालक बछड़ोंकी पूँछ पकड़कर इधर-उधर दौड़ रहे हैं। गोवत्स भी बालकोंके हाथसे पूँछ छुड़ाकर इधर-उधर धावमान हैं—

'धावद्वालावलिकरतलप्रोच्चलद्बालधीनाम्।' गो-वत्सोंके शरीर स्फटिकको तरह शुभ्रोज्ज्वल हैं। वे नव तृणांकुर आघ्राण करके त्याग रहे हैं। रथको रोककर जरा उनकी उल्लम्फनादि चंचलताके दर्शन करते जाना। मेरे सखाओंके दर्शन करना भी मत भूल जाना। देखना, वे सब समय श्रेणीबद्ध-रूपसे क्रीडा करते रहते हैं; यथाक्रमसे मेरे लीला-विहारका अनुकरण कर रहे होंगे।

उद्धव! मेरे सखाओंको जरा ध्यानसे लक्ष्य करना। उनके चित्तमें मेरा विरह-भाव परिस्फुट नहीं है। उनका सख्यरस है विश्रम्भप्रधान। मेरे विषयमें स्फूर्ति होते ही उन्हें मेरे साक्षात्कारका बोध होता है। उनके आवेशपर बिन्दुमात्र भी आघात मत कर देना। मेरी माताओं और गोपियोंका अनुराग भिन्न प्रकारका है, वह उत्कण्ठा-प्रधान है। मुझे पाकर भी वे सोचती हैं कि कृष्णकी प्राप्ति हुई नहीं। गोदमें बैठे रहनेपर भी 'कहाँ गया' पुकारकर रोदन करती हैं। उद्धव! इसके बाद तुम्हारा रथ सीधा नन्दीश्वर पर्वतके सानुदेशमें पहुँच जायगा। उस समय मेरे सारे प्रियजन द्रुतगतिसे दौड़े चले आयेंगे—यह सोचकर कि शायद मैं ही आ गया हूँ— **'मामाशङ्क्य स्फुटमुपगतम्।'** उस समय उन भग्नमनोरथ प्रियजनोंके समक्ष अपना परिचय इस प्रकार देना—

यः कालिन्दीवनविहरणोद्दामकामकलावान्
वृन्दारण्यान्नरपतिपुरं गान्दिजेनापनीतः।
कुर्वन् दौत्यं प्रणयसचिवस्तस्य गोपेन्द्रसूनो-
र्देवीनां वः सपदि सविधं लब्धवानुद्धवोऽस्मि॥

'जो निरन्तर यमुनातीरपर वनविहारकी अभिलाषा रखते हैं, किंतु जिन्हें अक्रूर व्रजसे मथुरापुरी ले गये हैं, बोलकर

जिनका मुखकमल निरन्तर दीर्घ निःश्वासपात-हेतु अत्यन्त मलिन हो रहा है, उन नन्दनन्दन कृष्णचन्द्रका मैं प्रणय-सचिव हूँ। मेरा नाम उद्धव है और मैं उनका दूत बनकर यहाँ आया हूँ।'

उद्धव! मुझे वृन्दावनके उन भ्रमर-चुम्बित विटपवृन्दोंकी याद आ रही है। तुम एक बार अपना हाथ उठाकर उन्हें मेरा प्राणभरा आशीष जताना—'**शस्ताशिषां मे वृन्दं वृन्दावनविटपिषु।**' उच्चस्वरसे मेरा नाम उच्चारण करके व्रजकी धेनुओंसे उनकी कुशल पूछना '**क्षमां पृच्छेः।**' ये सभी गौएँ अपने वत्सोंके प्रति स्नेह त्यागकर अश्रुपूर्ण नयनोंसे मेरा गात्र-लेहन (चाटना) किया करती थीं। उन मातृ-स्वरूपा गौओंके प्रति मेरा प्रणाम कहना। ब्रह्मा जब गोवत्सोंको चुराकर ले गये थे तो मैंने पूरे वर्षभर उनके स्तन्यामृतका पान किया है—'**स्तन्यं यासां मधुरधयं वत्सरं वत्सलानाम्।**'

नन्दबाबाके चरण पकड़कर—'कृष्ण आपको प्रणाम जता रहा है' '**नामग्राहं मम**' यह कहकर सम्यग्रूपसे उनकी वन्दना करना। मैंने तब उन्हें मथुरासे कितनी शपथ खिलाकर लौटा दिया था। उस समयका उनका मुखड़ा याद करके तो मेरा हृदय ही फटा जा रहा है।

हाय रे! अन्तरस्थित चिन्ताग्निमें जल-जलकर मेरी माँ यशोदा तो अत्यन्त कृश और मलिनवदना ही हो गयी हैं—मेरे नामका उल्लेख करके उनकी पद-वन्दना करना। उद्धव! मेरी माँ व्रजेश्वरी यशोदा निरन्तर विलाप कर रही हैं। 'मैं आज ही मथुरासे वृन्दावन लौट आऊँगा' इस आशासे अपने दोनों नयन मथुराके राजपथपर एकटक विन्यस्त किये बैठी

हैं—'**पुरीवर्त्मविन्यासनेत्रा।**' माँ यशोदाके वसन नयनोंसे झरती अविरत अश्रुधारासे पूर्णतः सिक्त हो रहे हैं, कहते-कहते यशोदानन्दनकी आँखोंसे भी अश्रुधारा बह चली। अत्यन्त कष्टसे धैर्य धारण कर व्रजविहारीने एक बात और कही—'उद्धव! ग्रीष्म-ऋतुमें सरोवरोंका जल सूख जाता है। तब वहाँके कूर्म (कछुए) किसी प्रकारसे कीचड़के नीचे आश्रय लेकर जीवन बिताते हैं। मेरा विरह ही व्रजके लिये प्रबल ग्रीष्मस्वरूप है, उससे गोपी-सरसीका जल एकदम सूख गया है। उनके प्राण-कूर्म किसी प्रकारसे 'मैं आऊँगा' केवल इस आशा-कर्दमके सहारे बचे हुए हैं—'**यासामाशामृदमनुसृताः प्राणकूर्मा वसन्ति।**' 'वे किस प्रकारसे जीवन धारण किये हुए हैं, यह वर्णन करनेकी भाषा मेरे भण्डारमें नहीं है।' कहते-कहते तीव्र विरहतापसे व्रजसुन्दरके तप्त अश्रु भी सूख गये। उनकी गति रुक गयी और वे वहीं खड़े-के-खड़े ही रह गये। उनका वर्षणोन्मुख मेघ-सदृश मुखमण्डल देखकर उद्धव भी विचलित होकर रथपर सवार हो गये। रथ व्रजाभिमुख चलने लगा। उद्धव सोचने लगे—'जिनके लिये स्वयं श्रीकृष्ण इतने कातर हैं, वे व्रजजन न जाने कितने प्रेममय हैं। उनके प्रति सान्त्वनावाक्य उच्चारण करनेकी क्या मुझमें सामर्थ्य होगी?' फिर सोचने लगे—'शायद होगी ही, मुझे ही इस योग्य समझकर जब उन्होंने स्वयं भेजा है।' उद्धव महाराजका मन भावनाओंके हिंडोलेमें झोंके खाने लगा। पलट-पलटकर पथपर स्थिर दण्डायमान अपने सखा कृष्णके वर्षणोन्मुख वदनको निहारने लगे।

मथुरा-विहारी सजल नयनोंसे व्रजकी तरफ देखते तबतक खड़े रहे, जबतक उद्धवके रथकी ध्वजा दृष्टिगोचर होती

रही, प्राणोंमें अदम्य इच्छा हो रही थी—दौड़कर उद्धवके साथ ही चले जायँ। किंतु ऐसा कर कहाँ सकते हैं? प्रीतिके सहज प्रभावपर नीतिका कठोर बन्धन बाधाकी सृष्टि जो करता है। द्वन्द्वातीतका द्वन्द्व! शोकातीतका शोक! पूर्णानन्दका विलाप! भगवान्‌का भक्तविरह! यही तो माधुर्य-रसकी घनीभूत मूर्ति है।

व्रज-प्रवेशका अनधिकार

उद्धव क्रमशः व्रजकी ओर अग्रसर होने लगे। वे रास्तेभर व्रज और व्रजविरही माधवके विषयमें सोचते रहे। इधर माधव उद्धवके विषयमें विचार कर रहे हैं—मेरे परमप्रिय सखा उद्धव आज व्रज जा रहे हैं। कितनी अपार शोभा-सम्पत् मेरी व्रजभूमिकी थी, किंतु मेरे बिना वह सब आज मलिन हो रही है। भाव-प्रवण गोविन्दके अन्तरमें वेदना उभर आयी—यह सोचकर कि उद्धव मेरे 'स्वपदरमण' शोभामय वृन्दावनके निरुपम सौन्दर्य-दर्शनसे वंचित रह जायँगे। इच्छामय लीलानायक श्रीश्यामसुन्दर ऐकान्तिक भावसे इच्छा करने लगे—उद्धव श्रीकृष्ण-संयुक्त व्रजकी उत्साह-आनन्दमय शोभा-सम्पत्का दर्शन करके धन्य हों।

योगमाया अघटनघटनलीलापटीयसी है। यह श्रीकृष्णकी इच्छाशक्तिका ही नामान्तर है। भगवदिच्छाको रूपायित करना ही इसके मुख्य कार्योंमें अन्यतम कार्य है, बस, योगमायाके प्रभावसे श्रीमान् उद्धवके नयनोंके सम्मुख व्रजकी स्वाभाविक शोभा प्रकट हो गयी। उनकी दृष्टिके सामने—श्रीकृष्णके व्रजविहारकालमें जो परम उल्लासमय सौन्दर्य व्रजमें सर्वत्र व्याप्त रहता था—वह भासमान हो उठा। नित्य भूमिकी प्रत्येक अवस्था ही समानरूपसे नित्यत्वविशिष्ट होती है। लीला-शक्ति योगमाया जब जैसी इच्छा हो व्यक्त कर सकती है। उद्धव खोये हुए-से व्रज-सौन्दर्यके अपार आनन्द-समुद्रमें गोते खाने लगे।

किसी वस्तुकी सत्ता होनेमात्रसे ही उसे सम्भोग करनेका हेतु एवं योग्यता किसीको प्राप्त नहीं हो जाती। उसके

अन्तरमें उसे भोग करनेकी योग्यता रहना आवश्यक है। अब उद्धवका अन्तर कृष्णके व्रजविहार-कालीन व्रज-माधुर्यको आस्वादन करनेकी पूर्ण योग्यता प्राप्त कर चुका है। जो दास हैं, उनकी श्रेष्ठ सम्पद् ही है प्रभु-सेवा। आज उद्धव उसी प्रभु-सेवाके कार्यहेतु निकले हैं। प्रभु-सेवामें ही दास कृतार्थ होता है। उसमें भी फिर आदेश पाकर प्रभु-सेवाका संयोग मिले तो कहना ही क्या? और वह सेवा भी कैसी—व्रजवासियोंका दर्शन-लाभ और उनकी सेवा करनेका सुअवसर। कृतकृत्यताकी गम्भीर अनुभूतिसे उद्धवका वदनमण्डल प्रफुल्ल हो उठा। यह आन्तरिक प्रफुल्लता ही उसके व्रज-सौन्दर्य-दर्शनमें परम सहायक होगी।

उद्धवके मनमें व्रजदर्शनके लिये उत्कण्ठा तो पहलेसे ही विद्यमान थी। श्रीकृष्णके आदरपूर्ण एवं आग्रहपूर्ण आदेशसे वह तीव्रतर हो उठी है। व्रजमें प्रवेश करते ही व्रजकी प्रत्येक वृक्षलता उद्धवके हृदयमें श्रीकृष्णकी लीला-मधुरिमाका उद्दीपन करने लगी। प्राणभरी अनुभूति लेकर उद्धव सोच रहे हैं—अहो, यही वह व्रजभूमि है, जहाँ बनवारी नित्य विहार करते थे। यही वह वनवीथि है, जहाँ सखाओंके गलेमें गलबाँही डालकर आनन्दसे नृत्य करते थे! यही वह भाग्यशाली वृक्ष है, जिसकी शीतल छायामें बैठकर उन्होंने प्रखर सूर्य-तापजनित अपनी क्लान्ति मिटायी थी। क्रीडासे श्रान्त होकर इसी छायाकुंजकी पल्लव-शय्यापर उन्होंने विश्राम किया था। इसी नीम-तले ललितभंगीसे खड़े होकर उन्होंने गौओंका नाम ले-लेकर मधुर स्वरसे वेणु बजायी थी। इन्हीं वृक्षराजकी स्निग्ध छायामें बैठकर अपने प्रिय सखाओंसे परिवेष्टित होकर पुलिन-भोजन किया था। धन्य हैं व्रजके तरु-लता,

गिरि-वन, जिन्होंने कितने गाढ़ अनुरागसे दुर्लभ श्रीपादपद्मोंका स्पर्श किया है। इनका सांनिध्य प्राप्त कर आज मैं भी धन्य हुआ।

उद्धवके रस-लोलुप नयन असंख्य तरु-लताओंसे परिशोभित, पुष्प-फलोंसे भारावनत वनकी शोभा देखने लगे। प्राणोंको मतवाला करनेवाली सुगन्धसे मन उल्लसित हो उठा। प्रतिपुष्पपर भ्रमरोंका मधुर गुंजन, प्रतिशाखापर कोकिलकी काकली श्रवणोंको आनन्द-विभोर करने लगी—'**सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्**' (श्रीमद्भा० १०। ४६। १३)। शत-शत दीर्घिकाएँ (सरोवर), उनमें प्रस्फुटित राशि-राशि पंकजोंकी निरुपम शोभा और सौरभसे दिक्-मण्डल (दिशाएँ) मतवाला हो रहा था। हंस, कारण्डव प्रभृति जलपक्षियोंकी उल्लासमयी ध्वनिसे सरोवर मुखरित हो रहे थे—

'**हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥**'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १३)

उद्धव देखने लगे—स्तनभाराक्रान्त गौएँ अपने-अपने बछड़ोंकी तरफ दौड़ी जा रही हैं। शक्तिशाली वृष ऋतुमती गौओंके लिये परस्पर युद्ध कर रहे हैं, श्वेतवर्ण गोवत्स इतस्ततः कूदते-फाँदते आनन्दवश दौड़ लगा रहे हैं। उद्धवको चारों दिशाओंमें गोदोहनकी ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। 'बछड़ेको मत छोड़ना,' 'दुहनेका पात्र देना', 'यह दूधका बरतन लेते जाना', 'जरा इस रस्सीको पकड़ना', 'जरा जल्दी करो ना' इत्यादि नानाविध शब्दोंसे गोष्ठ मुखरित हो रहा था—'**गोदोहशब्दाभिरवम्।**' उद्धवने देखा—घर-घरमें होमानुष्ठान, अग्नि और सूर्यदेवताकी पूजा हो रही है। कोमल नव-तृणग्रासोंसे गौओंको आप्यायित किया जा रहा है। मधुर

वचन और सत्कारद्वारा अतिथि, ब्राह्मण, पितर और देवताओंकी आराधना की जा रही है—

'अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १२)

'उद्धवको दृष्टिगोचर हुआ—व्रजका प्रत्येक गृह पुष्पोंसे सुसज्जित है। प्रत्येक गृहमें उज्ज्वल प्रदीप शोभित है, प्राणोंको मतवाला बनानेवाली धूपगन्ध बिखर रही है। '**धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्**॥' (श्रीमद्भा० १०। ४६। १२)।

जिधर भी दृष्टि पड़ रही है, उद्धवको उधरका ही दृश्य अत्यन्त मनोरम लग रहा है। गोप-बालक उल्लाससे भरकर नृत्य कर रहे हैं, कोई शिंगा फूँक रहा है तो कोई वेणु-नाद कर रहा है—'**वेणूनां निःस्वनेन च**' (१०। ४६। १०)।

उद्धव जब व्रजमें प्रवेश करने लगे तो सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो रहे थे—'**निम्लोचतिविभावसौ**' (४६।८)। गौओंके यूथ-के-यूथ अपनी दिनभरकी क्रीडा समापन कर व्रजमें प्रवेश कर रहे थे। उनके खुरोंके आघातसे पथ-धूलि आकाशको धूसरित कर रही थी। उन अजस्र धूलिकणोंसे उद्धवका रथ समाच्छन्न हो गया—'**छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः**॥' (१०। ४६। ८)

गोधूलिवेलाकी गोखुररेणुसे धूसरतनु उद्धवने अपनेको अत्यन्त धन्य माना। श्रीकृष्णकी चरणचुम्बित धूलिके वायुमण्डलमें व्याप्त स्पर्शसे उद्धवकी देह आनन्दानुभूतिसे पुलकित होने लगी—मानो व्रजवनने उनका धूलभरे हाथोंसे स्वागत किया हो। ब्रह्मादिवांछित रजःकण मस्तकपर धारण करनेसे मानो उद्धवकी समस्त अड़चनें एवं अयोग्यताजनित बाधाएँ चिरकालके

लिये लुप्त हो गयीं। तब संध्याके झुटपुटेमें धूलिसमाच्छन्न उद्धव और उनका रथ किसीको दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यदि प्रथम ही अन्य व्रजजनोंसे साक्षात् हो जाता तो नन्दबाबाके साथ साक्षात्कार करनेमें उद्धवको अवश्य विलम्ब हो जाता। लीला-शक्तिकी प्रेरणासे ही ये सब बातें घटित हुईं।

लीलाके पुष्टिहेतु लीलाशक्ति योगमायाने आज प्रथमतः श्रीमान् उद्धवके समक्ष श्रीकृष्णसंयुक्त व्रजवनका आनन्दोत्सवपूर्ण स्वरूप ही प्रकाशित किया। विरहविधुर व्रजका दुःखमय स्वरूप गोपन करके ही रखा। इसके बाद जिस प्रकार देवदर्शनके पूर्व तीर्थजलमें स्नान कराया जाता है, उसी प्रकार नन्दराजके साथ साक्षात्कारसे पहले उद्धवको व्रजकी धेनुखुरोत्थित व्रजरजसे परिस्नात करा लिया।

उद्धवका रथ व्रजराज नन्दके द्वारपर उपस्थित हुआ। तब भी धूलभरी आँधीके कारण वह साधारण लोकजनोंको दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उद्धव रथसे उतरकर थोड़े कदम अग्रसर होकर ही एक संगमर्मर-वेदिकापर बैठ गये। यह वेदिका व्रजराजके अन्तःपुरके सम्मुखवर्ती पुष्पोद्यानके मध्यस्थलमें बनी हुई थी। गौओंके धीरे-धीरे अपने गोष्ठोंमें प्रवेश कर लेनेपर धूलाच्छन्न गगन-मण्डल भी क्रमशः निर्मल हो गया। अन्धकार भी तबतक इतना गहरा नहीं हुआ था। आते-जाते गोपोंकी दृष्टि उद्धवपर पड़ी। उन्होंने दौड़कर नन्दबाबाको किसी अपरिचित व्यक्तिका आगमन-संवाद सुनाया।

नन्दराज स्वयं अन्तःपुरसे बाहर निकल आये और उद्धवसे मिले। उद्धवने नन्दबाबाके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। नन्दराजके नयनोंसे बह रही अविरल अश्रुधारासे उद्धवकी धूलिधूसरित देह अभिषिक्त हो गयी। नन्दराजने

उद्धवको लाकर अपने निज गृह-प्रकोष्ठमें बैठाया। नन्दबाबाके सौजन्यसे उद्धवका हृदय अत्यन्त अभिभूत हो गया।

गृहस्थका श्रेष्ठ कर्तव्य होता है गृहागत अतिथिकी सेवा करना। व्रजराजके मनमें प्रबल चिन्ता हुई—कहीं अतिथि उद्धव क्षुधासे अवसन्न न हो जायँ। किंतु उद्धवकी सेवा किस द्रव्यसे करें? नन्दराजके गृहमें तो आज कुछ भी नहीं है। जिस दिनसे व्रज-जीवन श्रीकृष्ण अक्रूरके रथपर सवार होकर व्रज छोड़कर चले गये, उसी दिनसे किसी व्रजवासी गोप-गोपीके आहार-निद्रादि देहधर्म रहे ही नहीं! उनकी इस चरम दुर्दशाका साक्ष्य उनके सूने रसोईघर ही दे रहे हैं। रसोईके बरतन—भाण्डे माजे नहीं गये हैं, चौके लीपे नहीं गये हैं, आँगनमें झाड़ू ही नहीं लगी है। चूल्होंमें मकड़ियोंके जाले भरे पड़े हैं। व्रजकी अमार्जित, अलिप्त, धूलिकंकड़-समाच्छन्न, लूतातन्तुव्याप्त पाकशालाएँ कृष्णविरहकी एक दारुण व्यथा-कथा कह रही हैं।

तब नन्दबाबाने सेवक भेजकर ग्राम-प्रान्तवर्ती किसी विप्र-गृहसे थोड़ा परमान्न मँगवाया। फीका परमान्न—दुग्ध-सिद्ध तण्डुलमात्र ही जो थे। पथ-परिश्रान्त उद्धव क्षुधासे कातर हो रहे थे, जो भी भोजन मिला उन्हें वह अमृततुल्य लगा। तदुपरान्त व्रजराजने उद्धवको शय्यापर शयन करवाया और भृत्यद्वारा उनका पाद-संवाहन करवाया।

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १५)

नन्दराजके संग निरानन्द वार्तालाप

कुशलादि-जिज्ञासा-हेतु नन्दराज उद्धवके संनिकट आकर बैठ गये। नन्दबाबाके अन्तरमें कृष्णकथाके अतिरिक्त कुछ न होते हुए भी कृष्णके बारेमें जिज्ञासा करनेका साहस नहीं हो रहा था। एक तो यह भय था कि न जाने किसी प्रश्नके उत्तरमें कोई अप्रिय संवाद न सुनना पड़े, दूसरा भय था—कहीं अपना विरह-दुःख वृद्धि-प्राप्त न हो जाय। यह आशंका थी इसीलिये 'कृष्ण कैसे हैं?' यह न पूछकर नन्दराजने वसुदेवजीका कुशल-प्रश्न किया।

नन्दराज बोले—मेरे सखा वसुदेव कैसे हैं? उद्धव! तुम कोई हमसे दूर नहीं हो, कृष्णके पिता वसुदेव और मैं एक पितामहकी ही संतान हैं। हमलोगोंके पितामह देवमीढने दो विवाह किये थे। क्षत्रिय-माताके गर्भसे जन्मे थे देवभाग एवं वसुदेवके पिता शूर और वैश्य-माताके पुत्र थे मेरे पिता पर्जन्य। वसुदेव केवल मेरे भाई ही नहीं हैं, वे मेरे क्रीडा-सखा भी हैं—बचपनमें न जाने कितने एक साथ खेले हैं हम दोनों। भाई वसुदेव अपने पुत्र-पुत्रियोंसहित कुशलसे तो हैं? उनके जो सुहृद्गण कंसके भयसे भीत होकर देश-विदेशमें भाग गये थे, वे सब अब मथुरामें लौट तो आये हैं न?

भाई वसुदेवने दुष्ट कंसके कारागारमें सुदीर्घकालतक न जाने कितने असह्य कष्ट सहे हैं। अभी सम्प्रति ही तो उन्हें इस कष्टसे मुक्ति मिली है। सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने अनुचर-वर्गसहित मारा गया। अपने पापोंके भारसे ही तो वह दुष्ट मरा। अरे, मरेगा ही तो। जो

दुर्जन सज्जनोंपर अत्याचार करते हैं, उनकी मृत्यु अनिवार्य है। सदाचारी यादवोंपर कंसने कितना अमानुषिक दौरात्म्य किया। उस महापातकका फल भी आखिर मिला ही—

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १७)

नन्दराजद्वारा कंसकी मृत्युकी बात आते ही कृष्णका प्रसंग उपस्थित हो गया और अधिक दबाकर नहीं रख सके कृष्ण-प्रसंगको। बोले—अच्छा उद्धव! मेरा कृष्ण क्या अभी मथुरामें ही है? मथुरामें है तो इतने दिनोंसे कोई संवाद क्यों नहीं मिल रहा है? एक जनश्रुति सुननेमें आयी थी कि यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके बाद दोनों भाई सुदूर अवन्तीपुर गुरुकुलमें चले गये हैं। भाई, यह संवाद सुनकर मेरा तो हृदय ही विदीर्ण होने लगा। जानते ही तो हो उद्धव, गुरुकुलमें कितना कठोर अनुशासन रहता है। भिक्षा माँगकर लानी होती है, यज्ञके लिये वनसे समिधा भी वहन करके लानी होती है। अरे, मेरा दुधमुँहा बच्चा कानु, जिसे घड़ीभरमें दस बार खानेको चाहिये, वह गुरुकुलकी इतनी कठोरता, लकड़ी काटकर लाना, पैदल जंगलमें चलना इत्यादि तपश्चर्याका निर्यातन किस प्रकार सहन कर पाया होगा?

मुझे तो उद्धव! इस अफवाहपर विश्वास हुआ नहीं। मेरे भाई वसुदेव इतने विचारहीन और निष्ठुर तो कभी नहीं हो सकते कि कृष्ण-सरीखे बच्चेको गुरुकुलमें तपश्चर्या-हेतु भेजें। फिर भी यदि वह गुरुकुल गया ही था तो अब मथुरा लौट तो आया है न? क्या वह

नवजलधरश्याम गोपाल कभी अपनी परम स्नेहमयी माँकी बात भी याद करता है? क्या उसको अपने प्रिय सुहृदोंके अकृत्रिम सौहार्दका भी स्मरण होता है? अपने प्रिय सखाओंकी स्मृति उसके हृदयमें क्या कभी क्षणभरके लिये भी उदित होती है? जो गोप युवक अत्यन्त आदर-स्नेहसे उसे अपनी गोदमें खिलाया करते थे, उन गोपोंकी बात वह कभी याद करता है? जिस व्रजभूमिपर वह नाना क्रीडा-कौतुक करता हुआ अत्यन्त आनन्दपूर्वक विचरण किया करता था, उस व्रजकी बात क्या उसके स्मृतिपथपर कभी उदित होती है? गौओंको कृष्ण कितना प्यार करता था। नित्य अपने हस्तसे तृणग्रास लेकर प्रत्येक गौको खिलाता था। गौएँ भी उसकी तरफ निर्निमेष-दृष्टिसे निहारती हुई अश्रु-विसर्जन किया करतीं और उसको जीभसे चाटा भी करती थीं। उन गौओंके विषयमें वह क्या अभी भी सोचता है? जिस व्रजवनमें खेलते-खेलते वह आहार-निद्रा भी भूल जाया करता था, उस व्रज-विपिनकी स्मृति उसके अन्तरसे क्या एकदम ही मिट गयी है? जिस गिरिराज गोवर्धनको उसने छत्रकी तरह धारण कर लिया था, जिस गिरिका सम्पूर्ण गात्र उसके सुकोमल चरण-चिह्नोंसे अंकित है, वह गिरि आज कृष्णके विरहमें किस प्रकार करुण विलाप कर रहा है, यह सोचनेका अवसर क्या कृष्णको कभी मिलता है?

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १८)

नन्दराजने सभीकी बात पूछी। केवल स्पष्ट शब्दोंमें नहीं

पूछी तो अपनी स्वयंकी बात। हमारा कृष्ण क्या हमलोगोंके विषयमें भी सोचता है—इस प्रश्नके अतिरिक्त उसका पिता मैं उसके विरहमें जो मरणासन्न हो रहा हूँ, क्या उसकी स्मृति भी कृष्णको कभी होती है?—यह स्पष्ट प्रश्न नन्दराज नहीं पूछ सके। पूछनेमें हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है, इसीलिये सब कहकर भी स्वयंके विषयमें न कह पानेके कारण नन्दबाबाका हृदय आन्तरिक संतापसे दावानलकी-सी ज्वालामें दग्ध होने लगा।

नन्दराजकी बातें सुनकर उद्धव सोच रहे हैं—क्या कह रहे हैं, नन्दबाबा! कृष्णकी स्मृतिशक्ति क्या इतनी कमजोर है कि इतनी अल्पावधिमें ही इन समस्त घटनाओं और व्यक्तियोंकी बात भूल जायँगे? उद्धवके अन्तरका आशय समझकर नन्दराज कहने लगे—'उद्धव! कृष्ण तो अत्यन्त सरल-स्वभाव बालक था, किसी प्रकारकी चिन्ता-फिकर करना उसने कभी नहीं सीखा और आज उसके सिरपर कितनी चिन्ताका भार है। जरासन्ध मथुराके ऊपर अत्याचार करनेके लिये कृतसंकल्प है। उसके अत्याचारसे यादवोंकी किस प्रकार रक्षा की जाय, इसी महान् चिन्तासे कृष्ण व्याकुल है। उधर कंसके अत्याचारोंसे उत्पीड़ित होकर जितने सारे यादवगण नाना देशोंमें पलायन कर गये थे, वे सब एक-एक करके लौटकर आ रहे हैं। मेरा कृष्ण उन सबको पुनः स्थापित करके उनके सुख-विधान करनेके लिये अत्यन्त विव्रत है। जरा-से लड़केके ऊपर इतना अधिक कार्यभार—उसको हम सबका स्मरण करनेका अवसर ही कहाँसे प्राप्त होगा?

उद्धव बोले—'व्रजराज! कृष्णमें धी-शक्तिकी कमी तो

नहीं है, वह कुछ भी नहीं भूले हैं। वह सदा-सर्वदा व्रजकी सभी बातें अत्यन्त कृतज्ञताके साथ स्मरण किया करते हैं। आपलोगोंकी याद कर-करके उनकी जो अद्‌भुत दयनीय अवस्था हो जाती है, वह मैंने प्रत्यक्ष देखी है। नन्दराज बोले—तो सचमुच कृष्ण हम सबको स्मरण करता है? यदि याद आती तो क्या बिना आये रह सकता है? हमें विदा करते समय कृष्णने कहा था—

'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्।'

सुहृद् यादवोंके सुख-स्वाच्छन्द्यकी व्यवस्था करके आप-लोगोंके दर्शन करने आऊँगा। वह दिन क्या आयेगा? उद्धव! गोकुलचन्द गोकुलवासी कृष्ण क्या अपने स्वजनोंको आनन्द प्रदान करने-हेतु फिर यहाँ आयेगा? एक बार उन्हें अपना दर्शन देकर कृतार्थ करेगा?

'अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १९)

उद्धव! व्रजके आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी कृष्ण-विरहमें मणिहृत नागराजकी तरह पागल हो गये हैं। व्रजके सभी माता-पिता कृष्णको अपनी निज संतानकी अपेक्षा भी अधिक स्नेह करते हैं। कृष्ण उन्हें अपने प्राणोंसे भी कोटिगुणा अधिक प्रिय है। इन सबको एक बार मात्र दर्शन देनेके लिये भी उसे आना उचित था। इसी व्रजकी उसने असंख्य बार नाना आपद्-विपद्से रक्षा की है। आज वही कृष्ण एक बार मात्र आकर इन्हें कुछ सान्त्वना दे, क्या यह भी आशा नहीं करें? ऐसे-ऐसे प्रियजन उसके विरहमें आज किस भयानक दुर्दशाको प्राप्त हुए हैं, यह बात उसे एक बार स्वचक्षुओंसे देखनेके लिये आना उचित था। बन्धु-

बान्धव रोगसे शय्यागत हो जायँ तो स्वजनोंको उनसे मिलने तो आना ही चाहिये। फिर यदि वह रोग कालान्तक ही हो—नीरोग होकर बचनेकी कोई आशा ही न हो, तब तो स्वजनोंको अपना सब आवश्यक कार्य छोड़कर भी उनसे मिलने आना ही चाहिये। व्रजवासी जिस तीव्र विरह-ज्वरसे पीड़ित हैं, उससे वह अधिक दिन जीवित रहेंगे, यह आशा ही दुराशामात्र है। इनका जीवन समाप्त होनेपर तो फिर साक्षात् नहीं हो सकेगा न? तब तो कृष्णको भी इनके लिये मर्माहत होकर अनुताप ही करना पड़ेगा। इसीलिये कहता हूँ कि मात्र एक बार आकर उसे हम सबको अपने श्रीवदनका दर्शन तो करा ही देना उचित है।

श्रीकृष्णके श्रीमुखकी बात करते-करते ही नन्दराजके नेत्र निमीलित हो गये। उनके कपोलदेशको सिक्त करती हुई अश्रुधारा बह चली। मानस-नेत्रोंसे श्रीमुखका दर्शन करते-करते वे कहने लगे— 'उद्धव! मेरे गोपालके वदन-मण्डलका क्या ही अनुपम माधुर्य है! कितना मंजुल है उसका हास्य, कैसी सुडौल है उसकी नासिका, कितने मोहक हैं उसके कपोलद्वय, कितनी मनोहारी है उसके नयनोंकी दृष्टि। हाय, इस जीवनमें यह हृदय-शीतलकारी वदन-शोभा क्या फिर एक बार देखनेको मिलेगी?

'तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १९)

श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका वर्णन करते-करते नन्दराज बेसुध-से हो गये। किसी प्रकार धैर्य धारण करके वे मानो स्वयंको सान्त्वना देने-हेतु कृष्णके अशेष गुणोंका स्मरण

करने लगे। 'उद्धव! कृष्णके गुणोंका क्या बखान करूँ। पुत्र तो सभीके होते हैं, परंतु इतना गुणवान् पुत्र अन्य किसको मिला है?' कालियदह कालियनागके विषके प्रभावसे विषमय हो गया था। कृष्णने कालियनागको वहाँसे भगाकर जलको निर्विष बना दिया। अहो, नागके मस्तकोंपर कृष्णने क्या ही मधुर नृत्य किया था! उस नृत्य-दर्शनसे प्रियजनोंको कितना असीम आनन्द मिला था। कालिय-दमनके दिनकी अर्द्धरात्रिके समय जब हम सब वनमें ह्रदके तीरपर निद्रामग्न थे तो हठात् दावाग्निने हमें घेर लिया था। सबका कष्ट दूर करनेके लिये व्याकुल कृष्णने उस दावाग्निका ही पान कर लिया था। उस समय ऐसा लगा था, मानो व्रजजनोंके प्रति कृष्णकी इस गम्भीर प्रीतिको देखकर अग्निदेव अपनी दाहिकाशक्ति त्यागकर सुशीतल हो गये थे।

कितनी विपदाओंसे कृष्णने व्रजकी रक्षा की है, यह कैसे बताऊँ? इन्द्रने इतने प्रबल वेगसे वर्षा आरम्भ की थी कि उससे सारे व्रजका विनाश निश्चित-सा था। किंतु कृष्णने उससे भी व्रजको अपने अद्भुत उपायसे बचा ही लिया।

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। २०)

उद्धव! कृष्णके असंख्य गुणोंका जन्मभर वर्णन करनेपर भी पार न पा सकूँगा। ऐसे पुत्ररत्नके बिछुड़ जानेपर भी प्राण निकल नहीं रहे हैं—यही परम आश्चर्य है। उद्धव! मेरा सब कुछ खो गया है, बच रहे हैं केवल ये प्राण

और रोना। अब सभी नित्यकर्म छूट गये हैं (**सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः**—१०। ४६। २१)। प्राण व्याकुल हैं कृष्णके विरहमें, गृह कारागार प्रतीत हो रहा है। कृष्णको भुलानेके लिये घरसे बाहर निकल जाता हूँ, किंतु कैसे भूलूँगा? व्रजमें है कोई ऐसा स्थान, जहाँ कृष्णकी स्मृति जुड़ी हुई न हो? यमुनाके तीरपर जाकर खड़ा होता हूँ तो कृष्णकी जल-संतरणादि क्रीडाएँ मानसपटलपर उभर आती हैं। चला जाता हूँ गिरि गोवर्द्धनके पार्श्वदेशमें; देखता हूँ—उस स्थलको जहाँ मुरलीकी मोहिनी तान सुनकर गिरिराजकी शिलाएँ भी द्रवीभूत हो गयी थीं और गोवत्सोंसहित कृष्णके पदचिह्न उनपर अंकित हुए पड़े हैं। हा कृष्ण! हा कृष्ण! पुकारते हुए मेरे हृदयमें अग्निकी भीषण ज्वालाएँ भभक उठती हैं। धीरे-धीरे चलकर वनकी दिशामें खिसक जाता हूँ। वहाँ देखता हूँ, कृष्णकी असंख्य क्रीडास्थलियाँ। ऐसा कोई वृक्ष नहीं दीख पाता जिसके तलदेशमें कृष्ण त्रिभंग होकर खड़े न हुए हों। ऐसा कुंज नहीं जिसमें कृष्ण आँखमिचौनी खेलते समय न छिपे हों, ऐसा कुण्ड नहीं जहाँ अवगाहन करके कृष्णने मस्तीभरी आमोदप्रद क्रीडाएँ न की हों। जिधर भी दृष्टि जाती है श्यामकी विहार-भूमि दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पथपर कोमल चरणोंके नन्हे-नन्हे चिह्न देखकर हृदय विदीर्ण होनेको होता है। जिधर भी देखता हूँ, सब कृष्णमय दीखता है। चाँदमें कृष्णका लालित्य, पुष्पमें कृष्णका हास्य, पिकगानमें कृष्णका कण्ठ ही उपस्थित दीखता है। जगत्‌में जो कुछ दीखता है, कृष्णका ही स्मरण कराता है। ज्यादा क्या कहूँ, उद्धव! मेरे कृष्ण-विहीन मन और प्राण भी

कृष्ण-कृष्ण रटते-रटते और सोचते-सोचते कृष्णमय ही हो जाते हैं, अन्तर तो कृष्णमय हो जाता है; किंतु बाहर वक्षके समीप जब उसे नहीं पाता तो वक्ष विदीर्ण हो जाता है—

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। २२)

अप्रत्याशित व्यर्थताका अनुभव

उद्धवने जब मथुरासे व्रजके लिये प्रस्थान किया था तो उन्होंने अपने मनमें नन्दराजके सम्बन्धमें कुछ धारणाएँ बना ली थीं। 'जिनकी चर्चा करते समय श्रीकृष्ण-जैसे व्यक्ति भी इतने विह्वल हो जाते हैं, न जाने उनके मनमें कृष्ण-प्रीति कितनी गहरी होगी।' किंतु नन्दराजकी अवस्थाको प्रत्यक्ष देखनेपर उद्धवको लगा कि नन्दराजका वात्सल्य उनके अनुमानसे भी कोटिगुणा अधिक है।

उद्धव चिन्ताके गहरे समुद्रमें डूब गये। उन्हें समझ नहीं पड़ रहा था कि वे नन्दरायको सान्त्वना किस प्रकार दें। इस संसारमें कोई दुःखसे रो रहा हो तो प्रबोधदाताका पहला कर्तव्य होता है—उसे सान्त्वना देकर चुप कराना। पर उद्धव प्रवीण, शास्त्रज्ञ, पण्डित और भक्त व्यक्ति हैं। वे भलीभाँति जानते हैं कि जीवके जीवनकी चरम सार्थकता है—भगवद्भावका लाभ और भगवान्‌की अन्तरंग-भावसे प्राप्ति तो हृदयकी आर्ति और व्याकुलताद्वारा ही हो सकती है। इस संसारमें जीव-समूह सर्वदा धन-जन-सुख-ऐश्वर्यके लिये ही लालायित है, कोई-कोई स्वर्ग-मोक्षके लिये भी व्याकुल हैं। कृष्णके लिये व्याकुल मनुष्य प्रायः सुदुर्लभ ही हैं। कृष्ण-हेतु तीव्र व्याकुलता-लाभ ही मनुष्य-जीवनकी चरमतम सार्थकता है। उद्धव प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि नन्दराजने जीवनकी परम सफलताकी प्राप्ति कर ली है। उनकी दशा देखकर तो उद्धवके भी हृदयमें यही साध जग रही है कि उन्हें भी कृष्णके लिये ऐसी ही व्याकुलता प्राप्त हो। उनको तो शंका यह होती है कि करोड़ों जन्मोंकी महासाधनाके

पश्चात् भी क्या उनके हृदयमें कृष्णके लिये इस प्रकार आर्ति उत्पन्न हो सकेगी? कृष्णके लिये इस प्रकारकी अश्रुवर्षा तो उद्धवके शास्त्र-शुष्क-भावित कठोर हृदयमें कथमपि सम्भव नहीं होगी। अतः नन्दराजको रोकना तो दूर, उलटे उद्धवकी प्रबल इच्छा हो रही है कि सब कुछ त्यागकर तपस्याद्वारा नन्दराज-सदृश प्रेमपरिपूर्ण कोमल हृदय प्राप्त किया जाय।

उद्धव कहना चाहते थे—'नन्दराज! इसी प्रकार और विलाप करते रहिये! युग-युगोंतक और अधिक आर्त होकर 'हा कृष्ण'! पुकारते-पुकारते इसी प्रकार अश्रुविसर्जन करते रहिये! किंतु हाय! यह भी तो कोई सान्त्वनाकी भाषा नहीं है। जो पहले ही अत्यन्त व्याकुल है, उसे और अधिक व्याकुल होनेको कहना क्या प्रबोधदाताको शोभा देता है? जिसको सान्त्वना-वाक्य कहनेसे तो हो जाता हो शास्त्र-विरुद्ध और शास्त्रीय वाक्य कहनेसे हो जाता हो प्रबोधदाताके पक्षमें अशोभन कार्य, उसको कौन क्या कहे? शास्त्र-प्रवीण उद्धवके पक्षमें नन्दराजका प्रबोधदाता होना केवल कठिन कार्य ही नहीं, पूर्णतः असम्भव व्यापार हो गया।

कोई व्यक्ति यदि कातर होता है तो उसे सान्त्वना देकर शान्त करने-हेतु आनेवाले सज्जनका दूसरा कर्तव्य होता है—उस कातर व्यक्तिके मनको विषयान्तरमें आकृष्ट करना। जिस विषय-हेतु वह व्यक्ति व्यथित है, उसके मनको अन्य विषयमें लगा पानेपर व्यथित व्यक्तिकी व्यथा हलकी पड़ सकती है। उद्धव यदि ऐसा करें तो उन्हें नन्दराजको यह कहना होगा कि आप अपने मनसे कृष्ण-चिन्तन त्यागकर उसे अन्यत्र लगानेकी चेष्टा कीजिये। पर उद्धव ऐसा नहीं

कर सकते; कारण वे जानते हैं कि जगत्‌के सभी विषयोंका परित्याग कर, यहाँतक कि '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' एकमात्र कृष्णस्मरण करनेसे ही जीवको परम श्रेयकी प्राप्ति होगी। जिसका मन पहले ही कृष्णमें निविष्ट है, उसे अपना मन कृष्णसे अन्यत्र निविष्ट करनेकी चेष्टा करनेके लिये कहना, केवल अन्याय ही नहीं, सर्वतोभावसे पापकार्य भी होगा। पुण्य और पवित्रताकी मूर्ति उद्धव क्या ऐसा पाप-कार्य करेंगे और वह भी व्रजमें आकर नन्दबाबाके सम्मुख बैठकर? उद्धवको लग रहा है कि नन्दबाबाको सान्त्वना देनेकी चेष्टा करना विडम्बनामात्र है।

कोई यदि अपने पुत्र-विरहसे दुःखी होकर विलाप कर रहा हो तो उसे प्रबोध देने आये हुए सज्जनका तृतीय कर्तव्य होता है उस दुःखी व्यक्तिका मन मायिक वस्तुसे हटाकर अमायिक वस्तुमें लगा देना। उसे कहना होगा—'तुम मायामय पुत्रके लिये शोक क्यों कर रहे हो? इस जगत्‌में कौन किसका है? सभी सम्बन्ध मिथ्या और क्षण-स्थायी हैं। रास्ते चलते दो पथिकोंमें जिस प्रकार क्षणिक परिचय हो जाता है, उसी प्रकारका परिचय इस मायामय जगत्‌में माता-पिता, पुत्र आदिका है। इस जन्ममें तुम किसीके पुत्र या पिता बने हो, अपने पूर्वमें और पर-जन्मोंमें अन्य किसीके पुत्र एवं पिता होगे। तुम्हारा पुत्र पूर्व जन्ममें और किसीका पुत्र बना था, इस जन्ममें तुम्हारा पुत्र बना है, आगामी जन्ममें फिर कहाँ जाकर न जाने किसका पुत्र बनेगा। अतएव इस नश्वर सम्बन्धसे स्नेहाकृष्ट न होकर, इन क्षणिक सम्पर्कोंकी बात भूलकर नित्य-धन भगवान्‌के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करो। वह सम्बन्ध न कभी नष्ट होगा, न कभी

वियोगजनित दुर्विषह ताप भोगना पड़ेगा। इसलिये पुत्रके लिये न रोकर रात-दिन यदि कृष्णके लिये क्रन्दन कर सको तो तुम्हारा अत्यन्त कल्याण होगा।

किंतु आज नन्दराज तो उद्धवके सम्मुख बैठे हुए श्रीकृष्णके निमित्त ही अविश्रान्त अश्रुपात कर रहे हैं। जिनका पुत्र ही भगवान् है और उसके लिये ही जो अत्यन्त व्याकुल होकर रो रहे हैं, उन्हें उद्धव क्या उपदेश दें? नन्दराजको यह कहना कि 'आप पुत्रके विषयमें भूल जाइये' उद्धवके लिये विषम पाप और असाधुजनोचित व्यवहार होगा। श्रीकृष्णको स्मरण करनेके लिये कहना ही साधु-पुरुषोंका कर्तव्य है। साधुश्रेष्ठ उद्धव नन्दराजको किस मुखसे कहें कि पुत्रके विषयमें भूल जाइये।

यदि उद्धव कहें कि 'नन्दराजजी! आप श्रीभगवान्का ही स्मरण कीजिये, तो नन्दराज जो अभी भी कर रहे हैं, वैसा ही और विशेषरूपसे करनेके लिये ही कहना हुआ। उद्धव जानते हैं, श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। एकमात्र उनके साथ सम्बन्ध ही नित्य शाश्वत सम्बन्ध है। अतएव नन्दराजको भगवत्स्मरणके लिये कहना और अपने पुत्रके लिये अधिक व्याकुल होनेके लिये कहना, एक ही बात हुई। किंतु यह तो प्रबोधदाताकी भाषा नहीं है। उद्धव अपने हृदयके अन्तःस्थलमें भलीभाँति अनुभव कर रहे हैं कि नन्दराजको सान्त्वना देनेयोग्य भाषा देवी सरस्वतीके भण्डारमें भी विद्यमान नहीं है।

उद्धव समझ रहे हैं कि जिस कार्यके लिये उन्हें भेजा गया है, वह सम्पन्न कर पाना नितान्त असम्भव है। ऐसी भाषा या वाणी उद्धवको खोजे नहीं मिल रही है, जिसके

सहारे वे अपना मुँह खोल सकें। बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, बुद्धिसत्तम उद्धव नन्दराजके अश्रुसिक्त मुखकी तरफ पूर्णतः मौन होकर इस प्रकार निहारने लगे—मानो उनके सम्मुख साक्षात् व्यथा शरीर धारण किये बैठी हो। उद्धव नन्दराजके महान् भाग्य और अपनी अक्षमताके विषयमें विचारने लगे। वे अन्तर्द्वन्द्वोंमें खो-से गये थे।

सांत्वना-योग्य भाषाका दारिद्र्य

नन्दराजकी आर्ति चरम सीमाको लाँघ चुकी थी। अब उनके पास चुप बैठना कठिन था। वहाँ रहनेवालेको या तो उनके साथ रोना पड़ता या कुछ-न-कुछ बोलना। उद्धवके पास न तो उनका साथ देकर विलाप करनेकी योग्यता है, न उन्हें प्रबोध देनेयोग्य भाषाका ही ज्ञान है। उद्धव अपने जीवनमें कभी इस प्रकार असहाय न हुए थे। वे विवश हो बोले—'नन्दराज! आप और माँ यशोदा महान् भाग्यवान् हैं। आपके समान श्लाघनीय जीव जगत्में न हुआ है न होगा—**'युवां श्लाघ्यतमौ लोके।'** श्रीकृष्णचन्द्रके धराधामपर अवतीर्ण होनेके कारण आज जगत् महान् भक्तोंसे परिपूर्ण हो रहा है। महाप्रेमी भक्त स्थान-स्थानपर जन्म ग्रहण कर चुके हैं। सृष्टिके आदिसे आजतक जितने भक्तोंने जन्म ग्रहणकर इस पृथिवीको अलंकृत किया है, आप उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आपकी तरहका समर्पित-चित्त, वियोग-व्याकुल, प्रीतिमान् भक्त इस पृथिवीपर कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी गोष्ठीमें कोई एक व्यक्ति महत्ता प्राप्त कर लेता है तो गोष्ठीके सारे सदस्य उसके लिये गर्वका अनुभव करते हैं, जगत्की भक्त-गोष्ठीके हम सब भी आपके नामपर गर्व अनुभव करते हैं। आपलोगोंकी भाग्य-महिमाका वर्णन करनेमात्रसे भी हम अपनेको धन्य अनुभव करते हैं। आप-जैसोंको अपने वक्षपर धारण करके धरणी भी धन्य हुई है।

सुन्दर और परम सत्य होते हुए भी उद्धवकी बातें नन्दराजके हृदयमें तीखे तीर-सी लगीं। तीव्र वेदनासे कातर हो वे कहने लगे—'वत्स उद्धव! सुना था कि तुम बहुत

बुद्धिमान् हो। तुम्हें देखकर भी तो ऐसा ही लगा था, किंतु तुम्हारी बात सुनकर तो बड़ी निराशा हुई है। तुम निरे बालक हो, नितान्त अज्ञ हो। ऐसा नहीं होता तो तुम मुझ महान् हतभाग्यको मुँहपर ही भाग्यवान् क्यों कहते? उद्धव! जो व्यक्ति पुत्र-विरहसे मुमूर्षु हो रहा है, उसे तुम भाग्यवान् कहते हो? फिर पुत्र भी ऐसा-वैसा नहीं। पुत्र तो सभी मनुष्योंके होते हैं, किंतु श्रीकृष्ण-सदृश पुत्र किसीको हुआ है या होगा? यदि तुम्हारे हृदयमें स्वल्पमात्रमें भी अनुभवशक्ति होती तो तुम ऐसे व्यक्तिको भाग्यशाली नहीं कहते जो श्रीकृष्ण-जैसे पुत्ररत्नके वियोगमें मरणाधिक वेदनासे दिन-रात्रि छटपटा रहा हो। जिसके मस्तिष्कमें अत्यल्प मात्रामें भी बुद्धि होगी, वह भी भलीभाँति जानता होगा कि पृथिवीपर हमारे-जैसे हतभाग्य और नहीं जन्में हैं। बड़े-से-बड़े शत्रुको भी हमारे-जैसा दुर्भाग्य प्राप्त न हो। उद्धव! हमारे ऊपर तो विधाता ही विमुख है, जो ऐसी बात भी सुननी पड़ती है। हमें भाग्यवान् कहना तो एक प्रकारसे हमारा परिहास करना हुआ।'

नन्दराजकी बातें सुनकर उद्धव स्तब्ध रह गये। समझ गये कि मेरा बोलना उचित न हुआ। उद्धव गम्भीरतासे विचार करने लगे तो लगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह तत्त्वतः तो यथार्थ ही है। जिसके हृदयमें आकुलतासे भरपूर इस प्रकार कृष्णानुराग विद्यमान है, वही तो परम भाग्यवान् है। भक्ति-शास्त्र इसीका समर्थन करते हैं। जो बात शास्त्रीय सिद्धान्तसे अनुमोदित है, वही कहना नीतिज्ञ और शास्त्रज्ञ व्यक्तिका सर्वदा कर्तव्य है। तब तो न्यायतः और धर्मतः परम सत्य-भाषण करके उद्धवने अपना कर्तव्य

ही किया है। किंतु आश्चर्य तो इस बातका है कि ऐसी बात भी अन्याय और अकर्तव्य-सी लगकर नन्दराजकी वेदनावृद्धिका कारण बनी।

उद्धव दिग्भ्रान्तकी तरह विचार-समुद्रमें गोते खाने लगे। वस्तुतः उद्धव नन्दराजकी श्रीकृष्ण-प्रीतिका गौरवांश ग्रहण करके मुग्ध हो गये हैं, किंतु उसके सौरभांशका कणमात्र भी ग्रहण करके अभिभूत न हो सके। उद्धव नन्दराजके दुःखके स्वल्पांशका भी अनुभव नहीं कर पाये, केवल उसके महिमांशका अनुभव करके चमत्कृत हुए हैं। उद्धवने यह भलीभाँति हृदयंगम कर लिया कि इतना अनुराग जिसके हृदयमें भरा है, वह कितना महान् है और इसीलिये उनको महान् भाग्यवान् कह भी सके। नन्दराजके श्रीकृष्णवात्सल्यकी विशालतासे उद्धव मुग्ध हुए हैं, किंतु उसकी गम्भीरतामें अवगाहन करके उसमें अपनेको विलीन नहीं कर सके। उद्धव स्वयंको स्वयं ही नहीं समझ पा रहे हैं, कारण, उद्धवके चित्तमें जो श्रीकृष्णभक्ति है, उसमें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यांशकी स्फूर्ति ही प्रधानरूपसे विराजमान है। श्रीकृष्ण ही परदेवता, परब्रह्म हैं, यह बात उद्धवके अन्तःकरणके अन्तरतम-प्रदेशमें भी भिदी हुई है। जीवके अनुरागके परम विषय पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। जिस वस्तुमें अनुराग स्थापन करना उचित है, नन्दराजका अनुराग उसी वस्तुमें स्थापित है। अतएव नन्दराजको महामहिमान्वित विशिष्ट व्यक्ति माननेमें उद्धवको कथमपि हिचकिचाहट नहीं है। किंतु नन्दराजकी प्रीति किसी तर्कसंगत युक्तिके औचित्यसे उत्पन्न नहीं है, यह बात उद्धवकी समझसे बाहर है। नन्दराज श्रीकृष्णसे इसलिये प्रेम नहीं करते कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अतः उनसे प्रेम

करना चाहिये। नन्दराजका प्रेम स्वभावसिद्ध है, स्वतःसिद्ध है। उद्धवकी श्रीकृष्णके प्रति इसलिये प्रीति है कि उद्धवकी बुद्धिमें श्रीकृष्णभगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। नन्दराजके लिये श्रीकृष्ण उनके पुत्रके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं।

आज मानो मथुरापुरी व्रजदर्शनको आयी है। केवल दर्शन ही नहीं व्रजराजको सान्त्वना भी देनी है। उद्धव व्रजराजके श्रीकृष्णप्रेमकी गरिमामात्र बुद्धिद्वारा ग्रहण कर पा रहे हैं। उसकी मधुरिमा हृदयद्वारा आस्वादन नहीं कर पा रहे हैं। यही कारण है कि उनका निर्दोष वाक्य भी दोषावह हो गया है।

नन्दराजका दीनभाव

सुतीव्रविरहवेदनावश नन्दराजके चित्तमें दैन्यका उदय हुआ। दीन-हीनके-से स्वरमें व्रजराज बोलने लगे—उद्धव! मैं कृष्णका पिता होने योग्य नहीं हूँ। कृष्ण तो कोई साधारण बालक नहीं है। नामकरण-संस्कारके समय गर्ग मुनिने मुझसे कहा था कि गुणोंमें कृष्ण नारायणके समकक्ष है (**गर्गस्य वचनं यथा**)। कृष्ण-बलराम सुर-मुनियोंके भी ध्येय हैं, यह बात भी कही थी। अब कभी-कभी मुझे भी ऐसा लगता है कि आचार्यने सत्य ही कहा था। तुमलोगोंने भी तो अपने नेत्रोंसे देखा है—जिस कंसके शरीरमें दस हजार हाथियोंका बल था, उस कंसको कृष्णने धक्का देकर पृथिवीपर पटक दिया और वध कर दिया।

और उस कुवलयापीड हाथीको तो उसीके दोनों दाँत उखाड़कर कैसे खेल-खेलमें मार दिया था। अरे, सिंह जिस प्रकार वनके पशुओंको पकड़-पकड़कर मार डालता है, उसी प्रकार कृष्णने अवहेलना करते हुए चाणूर-मुष्टिक-प्रभृति मल्लोंको अवलीलाक्रमसे किस प्रकार मार दिया था।

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। २४)

जिस प्रकार मत्त हस्ती इक्षुदण्डके टुकड़े कर देता है, उसी प्रकार कृष्णने शिवधनु तोड़ डाला था। धनुष कोई छोटा-सा तो था नहीं, उसका दैर्घ्य था तीन ताल (अर्थात् सौ हाथ)। पुराना होते हुए भी जीर्ण थोड़े ही था, बल्कि विशेष सारवान् और कठोर ही था। यह सब घटनाएँ तो उद्धव! तुमलोगोंने भी प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे देखी हैं। व्रजमें भी उसका पराक्रम कम नहीं

देखा था। सात वर्षकी उम्रमें ही गोवर्धनगिरिको एक हाथपर धारण करके सप्ताहभर खड़ा रहा था। प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त, बक प्रभृति जिन असुरोंके नामसे ही सुरासुर काँपते थे, उन सबको कृष्णने खेल-खेलमें ही मार दिया था—यह सब अपनी आँखों-देखी बातें हैं—

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम्॥
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। २५-२६)

यह सब देख-सुनकर और आचार्यकी वाणीका स्मरण करके मैं ठीक ही कह रहा हूँ कि कृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं। हो सकता है, ये कोई शापभ्रष्ट देवता हों अथवा कोई श्रेष्ठ देव अन्य देवताओंके कार्य-साधन-हेतु आये हों। यह तो मेरा नितान्त सौभाग्य कहो, जन्म-जन्मान्तरोंका पुण्यफल कहो या पिता-पितामहोंके शुभकार्यका फल कहो, जो मेरे सदृश साधारण मनुष्यको इन्होंने पिता कहके पुकारा। अन्यथा उनके पिता होनेकी योग्यता तो मेरेमें कुछ भी नहीं है।

अचानक नन्दराजके चित्तमें यह दैन्य आया कैसे? यह तो वात्सल्यरसके समुद्रसे उत्थित असंख्य संचारीभावतरंगोंमेंसे ही एक क्षुद्र तरंग है। ऐसी तरंग सख्यरसके समुद्रमें भी दिखायी पड़ती है। पहले ही कह चुके हैं, नन्दराज कृष्णको अपना स्नेहपात्र पुत्र ही समझते हैं, कृष्णकी भगवत्ता अथवा अन्य कोई महत्त्व उनकी विचारधाराकी परिधिमें नहीं आता। जब नहीं ही आता तो फिर यह भावना उनके चित्तमें आयी कहाँसे? उत्तर यह है कि व्रजके सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन तीनों

रसोंमें ही कृष्णकी भगवत्ताका कतई प्रवेश नहीं है। किंतु विरहके तरंगकालमें उसका क्षणिक प्रकाश परिदृष्ट होता है। मिलनकालमें वे लोग कभी भी कृष्णको कोई महान् व्यक्ति बोलकर नहीं जानते। विरहकालमें—जब उनके चित्तमें ऐसा नैराश्य घर कर जाता है कि कृष्णको अब फिर नहीं पा सकेंगे तो विरहतापके भावसिन्धुके आलोडन-हेतु ईश्वरभावका क्षणिक उदय होता है। किंतु तप्त-दुग्धकी कड़ाहीमें आवर्तित क्षुद्र तृणखण्डकी भाँति वह प्रकट होकर ही पुनः लुप्त हो जाता है—वापस दिखायी नहीं पड़ता।

उद्धवकी कृष्णविषयक भगवद्बुद्धि उसके स्थायी-भावके अन्तर्गत है, जबकि नन्दराजकी कृष्ण-माहात्म्यस्फूर्ति क्षणिक और क्षुद्र तरंग-जैसी है। तथापि इस क्षेत्रमें दोनोंके विचारोंके यत्किंचित् सादृश्यसे भी उद्धवको बहुत सहारा मिल गया।

बोलते-बोलते नन्दराज मौन हो गये। गाम्भीर्य और धैर्यने मानो उन्हें थोड़ी शान्ति प्रदान की। एक सुतप्त दीर्घ निःश्वास परित्याग कर मानो वह जरा आश्वस्त-से होकर बैठ गये। उधर कृष्ण-जननी यशोदा पार्श्वस्थित प्रकोष्ठमें मूर्च्छिता होकर भूमिपर पड़ी हैं। मथुरासे कृष्णका एक सखा आया है, स्वयं कृष्ण नहीं आया—यह संवाद सुनते ही वे बेसुध होकर धरणीपर गिर पड़ीं। जिस दिन कृष्ण व्रज त्यागकर गये हैं, उसी दिनसे नन्दरानीने नेत्र बंद कर लिये। 'कृष्ण-हीन व्रजको नहीं देखेंगी' बोलकर मुदित नयन फिर उन्मीलित ही नहीं किये। नन्दराज उद्धवके साथ कृष्णविषयक जो वार्तालाप कर रहे थे, अर्द्ध बाह्यज्ञानकी दशामें उस वार्ताका कुछ-कुछ खण्डित अंश यशोदाजीके कानोंमें पहुँच रहा था। उस वार्ता-अंशको सुनते-सुनते शुद्ध वात्सल्यरसके उद्दीपन-हेतु माँ यशोदाके स्तन-

युगलोंसे दुग्धधारा स्रवित होने लगी। नयनोंसे बहती अजस्र अश्रुधारा और इस दुग्धधाराने मिलकर माँ यशोमतीके वक्ष-वसनांचलको पूर्णतया सिक्त कर दिया।

उद्धव नीरव होकर बैठे हैं। माँ यशोदाके साथ वार्तालाप करनेका साहस वह नहीं जुटा पाये। किंतु नन्दबाबाके साथ दो-चार बात करनेका किंचित् साहस उन्हें मिल गया। इसीको हमने उद्धवको 'बहुत सहारा मिल गया' कहा है।

उद्धवने लक्ष्य कर लिया था कि कृष्णका माहात्म्य वर्णन करते समय दैन्यवश नन्दराजके नेत्रोंका जल सूखने लगा था। ऐसा लक्ष्यमें आनेसे उद्धवके हृदयमें एक नवीन ज्ञान उद्भासित हुआ। उन्होंने सोचा कि 'कृष्ण किसीके पुत्र नहीं हैं, वह तो अनन्त विश्वके ईश्वर और स्वयं भगवान् हैं'—यह तत्त्व किसी प्रकार नन्दबाबाकी बुद्धिमें प्रवेश करा सकें तो उनका कृष्णके प्रति पुत्रविषयक बोध शिथिल हो जायगा। फलस्वरूप उनकी तीव्र वेदनाका भी उपशम होगा। दिग्भ्रान्त उद्धवको पथकी एक सूक्ष्म रेखा दृष्टिगोचर हुई। मूक उद्धव नन्दबाबाके समक्ष कृष्णकी भगवत्ता-स्थापनके कठिन कार्यको सिद्ध करने-हेतु मुखर हो उठे।

श्रीकृष्णकी भगवत्ता

उद्धव महाराजने फिर बोलना आरम्भ किया। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—अब यही बात कहेंगे। ऐसा कहनेका उद्देश्य है, नन्दराजका कृष्ण-वात्सल्य शिथिल करके उनके शोकका किसी प्रकारसे भी अपनोदन करना।

उद्धव बोले—नन्दराज! आपके और माँ यशोदाके भाग्यकी कोई सीमा नहीं है, आप दोनोंका सौभाग्य वर्णनातीत है—'**युवां श्लाघ्यतमौ लोके।**' आपलोगोंके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति जैसा अनुराग है, वैसा कोई महती तपस्या करके भी प्राप्त नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण कौन हैं, जानते हैं न?

आपातदृष्टिसे तो ऐसा लग सकता है कि कृष्ण भी शायद अन्य जनोंकी तरहके ही एक मनुष्य हैं, किंतु वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् भगवान् ही हैं। वे धराधामपर अवतरित हुए हैं। पृथिवीपर उन्हींके साथ महान्-महान् अन्य भक्तजनोंने भी जन्म ग्रहण किया है। इस समस्त भक्तगोष्ठीमें आप-जैसा कृष्णानुरागी भक्त दूसरा नहीं है। इस प्रकारका निर्मल अनन्त कृष्ण-स्नेह मैंने न कहीं देखा है, न सुना है। जिस प्रकार गोष्ठीमेंसे कोई एक जन बड़ा हो जाय तो उससे बाकी सभीका भी गौरव बढ़ता है, उसी प्रकार भक्तसंघमें आपलोग भी हैं, यह सोचकर हमलोगोंका भी मुख उज्ज्वल हो जाता है।

आपलोग जिससे इतने घनिष्ठभावसे स्नेह करते हैं, वह कोई ऐसा-वैसा सामान्य मनुष्य नहीं है, वह तो स्वयं नारायण, महानारायण अथवा मूलनारायण है। अन्य सब देव-देवी तो उनकी अंशकला या विभूतिमात्र हैं। महत्तत्त्वके स्रष्टा

महाविष्णु प्रभृति पुरुषावतारोंके परम आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं। संसारमें जितनी भी श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं, उन सबके परम मूल एवं गुरु श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसे महाधनको भी आपने अपने स्नेहसे पूर्णतः वशीभूत कर रखा है। क्या इस भक्तिकी भी कहीं तुलना हो सकती है? ऐसे भक्तिधनके जो धनी हैं, उन-जैसा महाभाग्यशाली जगत्‌में और कौन है?'

नन्दराज, आप जिन्हें पुत्र मान रहे हैं, वे श्रीकृष्ण-बलराम क्या हैं, जरा और भी स्पष्ट करके बता रहा हूँ; सुनिये—

'एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३१)

श्रीकृष्ण और बलराम इस निखिल विश्वके बीज और योनि हैं। बीज और योनिका अर्थ है निमित्त कारण और उपादान कारण। एक घटका बीज है कुम्भकार, योनि है मृत्तिका। एक जीव-देहके पिता हुए बीज, माता हुई योनि। समस्त जगत्‌के बीज और योनिमें भेद है, पृथक्-पृथक् वस्तु होना आवश्यक है, किंतु निखिल विश्वके जो मूल हैं, वह अकेले ही निमित्त कारण भी हैं, उपादान कारण भी हैं।

निखिल विश्वका मूल बीज है पुरुष और आदि योनि है प्रकृति। समस्त पुरुषोंके आश्रय जो परम पुरुष हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। समस्त प्रकृतिके ईक्षणकारी और क्षोभकारी पुरुष हैं, परमपुरुष श्रीकृष्णकी अंशकला। अनन्त विश्वमें जो कुछ है वह सब श्रीकृष्णकी विभूति है। यहाँतक कि निर्विशेष ब्रह्मकी भी वह प्रतिष्ठा और मूल आश्रय हैं। अनन्त जगत्-सृष्टि करके श्रीकृष्ण ही फिर उसमें अन्तर्यामी-रूपसे प्रविष्ट हो गये हैं। किंतु प्रवेश करके भी वे मायिक वस्तुके साथ लिप्त नहीं हुए हैं।

नन्द महाराज अवाक् विस्मयके साथ उद्धवके वचन कानोंसे सुन रहे हैं। उद्धव बोलते ही चले जा रहे हैं—'सुनिये गोपराज! यदि प्राणी मृत्युकालमें भी क्षणमात्रके लिये अपना मन श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें निविष्ट कर दे तो उसके समस्त अमंगल दूर हो जाते हैं, उसका सर्वविध कर्मफल दग्धीभूत हो जाता है और उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। फिर वह भगवान्‌का पार्षदपद प्राप्त कर सूर्यके समान प्रभासे भास्वर हो जाता है।

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३२)

श्रीकृष्ण अनन्त ब्रह्माण्डकी आत्मा हैं। समस्त कार्यकारणोंकी चरम परिणति श्रीकृष्णमें ही होती है। ऐसे श्रीकृष्णमें आपलोगोंका एतादृश प्रगाढ़ अनुराग है। आप ऐसे कृष्ण-प्रेमधनके धनी हैं। जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपके लिये अप्राप्त हो—'**किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्।**' आपके भाग्यकी महिमा वाणी और मनके अगोचर हैं।

आप श्रीकृष्णके विरहमें परम व्याकुल हो रहे हैं, किंतु यदि आपको यह परिज्ञात हो जाय कि श्रीकृष्ण हैं क्या वस्तु, तो आपका यह विरह टिक नहीं सकता। विरहका जनक है अभाव। किंतु जिसका अभाव किसी भी समय, किसी भी स्थानमें नहीं होता, उसके लिये कैसा विरह? जिस प्रकार काष्ठमें अग्नि नित्य वर्तमान है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयमें नित्य विराजमान हैं।

नन्दराज! आपके भी हृदयमें श्रीकृष्ण उपस्थित हैं, अतएव शोकका कोई कारण नहीं है और आप व्याकुल न हों। श्रीकृष्ण तो आपके अत्यन्त समीप हैं, उन्हें देखिये—

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३६)

नन्दराज! आप जो कृष्णको अपना पुत्र मान बैठे हैं, यह भावना इसलिये बनी हुई है, क्योंकि आपको कृष्णतत्त्वका सम्यक् ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, मायातीत हैं—निर्लेप, निर्विकार हैं। उनको न कोई प्रिय है, न अप्रिय है। जो पूर्णकाम हैं, उनके लिये फिर अपना-पराया कैसा? आप मान बैठे हैं कि आप कृष्णके माता-पिता हैं, किंतु यह सत्य नहीं है। पितृ-मातृ-सम्बन्ध होता है मायिक। इसलिये मायातीतके माता-पिता नहीं हो सकते। व्यावहारिक जगत्में धातुद्वारा देह उत्पन्न होती है, इसी नाते तो माता-पिता दिखायी पड़ते हैं। किंतु श्रीकृष्णका जन्म तो धातु-सम्बन्धसे है ही नहीं, इसलिये श्रीकृष्णके माता-पिता भी नहीं हो सकते—

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३८)

वह समस्त कारणोंके आदि कारण हैं। अतएव उनके लिये कोई अपना या पराया नहीं हो सकता। प्राकृत-जीवके देह और देही—ये दो वस्तुएँ होती हैं। अप्राकृत श्रीकृष्णके देह-देही-भेद नहीं है। जीवका जो स्वरूप है, वह उसकी देह नहीं होती, इसलिये जीवके पृथक् देह होती है। श्रीकृष्णकी

जो देह है वही उनका स्वरूप भी है, सुतरां उनकी देह नहीं है। जीवके कर्म होता है, कर्मजनित फल होता है और फलस्वरूप जन्म-मृत्यु भी होती है। श्रीकृष्णके न कर्म है, न कर्मफल है, अतएव जन्म-मृत्यु भी नहीं हैं। यह सब सुनकर आप प्रश्न कर सकते हैं कि फिर सर्वशक्तिमान् भगवान्के लिये इस जगत्में आनेका प्रयोजन ही क्या है? तो बता रहा हूँ—

'क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३९)

भगवान् नित्यलोकमें रहते हुए भी केवल अपने संकल्पमात्रसे समस्त कार्यसाधन कर सकते हैं। फिर भी वे जगत्में दो प्रयोजनोंसे आते हैं—एक है लीला यानी क्रीडा-आस्वादन और दूसरा है साधुजनोंका रक्षण। जिस प्रकार कर्ममय देहधारी जीव क्षणमात्रके लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, उसी प्रकार लीलामय श्रीकृष्ण भी लीला किये बिना क्षणकाल भी नहीं रह सकते और सब विषयोंमें उदासीन होते हुए भी भक्तरक्षणके विषयमें वे परम आग्रहशील हैं। भक्त उनको अपने प्राणोंसे भी प्रिय हैं। भक्त ही साधुपद-वाच्य है, अतएव साधु-रक्षा उनका स्वभावगत धर्म है। वे भक्तके भगवद्भजनमें जितनी प्रकारकी भी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उनको तो दूर करते ही हैं और भजन-कार्यके लिये सर्वविध अनुकूलताकी भी व्यवस्था कर देते हैं। भक्त यदि भगवान्को पुत्र, सखा या वल्लभरूपसे प्रेम करना चाहता है, किंतु उस रूपसे भगवान्को प्राप्त नहीं कर पाता तो भक्तके भजनमें अनुकूलता लाने-हेतु भगवान् उस-उस रूपसे आविष्ट होकर भक्त-पालन एवं लीला-आस्वादन किया करते हैं।

अतएव वास्तवमें वे किसीके पुत्र नहीं हैं। केवल भक्तके तत्तत् भावानुकूल पुत्रादिका अभिनयमात्र किया करते हैं—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४२)

गोपराज! श्रीकृष्ण आप दोनोंके पुत्र हैं, यह बात एक दृष्टिसे सही भी है और अन्य दृष्टिसे सम्पूर्ण असत्य है। आपलोगोंके हृदयमें गम्भीर वात्सल्यभाव-आवेश है, अतः वे आपके पुत्र हैं, कारण उनकी प्रतिज्ञा जो है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४। ११) आपलोगोंके हृदयके भाव और श्रीकृष्णका तदनुकूल प्रतिरूप भावका अभिमान—इस दृष्टिसे वे आपके पुत्र हैं। यदि आपलोग जागतिक जन्य-जनक-सम्बन्ध-हेतु श्रीकृष्णमें पुत्राभिमान-पोषण करते हैं तो वह सर्वतोभावसे ही असत्य है। वे तो सभीके आत्माकी आत्मा हैं, सभीके परम प्रिय हैं। वे सभीके माता, पिता, धाता हैं। स्वयं उन्होंने कहा भी है—'**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः**' (गीता ९। १७)। मैं इस जगत्‌का पिता, माता, धाता, पितामह सभी कुछ हूँ। यही तत्त्व है, यही तथ्य है। वह आपके पुत्र हैं, यह बात रसभावानुकूल है, वह भी आपलोगोंका अभिमान-विशेष ही है।

इस अनन्त विश्वमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। इस जगत्‌में जो कुछ सुन चुके हैं, देख चुके हैं, जो अतीत हैं, जो वर्तमान है और जो होनेवाली है, जो स्थावर है और जंगम है, जो बृहत् है और अणु है, वह सब कुछ अच्युत-नामधारी श्रीकृष्णसे पृथक् नहीं है; क्योंकि वही परमात्मा, परमाश्रय एवं सर्वस्वरूप हैं—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४३)

इस प्रकार उद्धवने विचाररूपी रंगसे और शास्त्रकी तूलिकासे श्रीकृष्णतत्त्वका एक अनुपम चित्र अंकित करके नन्दराजके सम्मुख रखा। किंतु शायद उद्धव नहीं जानते कि नन्दराज अन्धे हैं। जगत्‌के जीव भोगहेतु अन्धे हैं, व्रजके जन प्रेमवश अन्धे हैं।

माधुर्यावगाहनकी अक्षमता

कोई भी वस्तु सूर्यके प्रकाशमें ही दृष्टिगोचर होती है। गहरे अन्धकारमें कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। शास्त्र-ज्ञान भी दिवाकर-रश्मितुल्य होता है। ज्ञान-किरण-सम्पातसे ही समस्त सत्य तथ्य स्पष्ट अनुभवमें आते हैं और भ्रम एवं प्रमादका अन्धकार मिटता है।

नन्दराज श्रीकृष्णके लिये आँसू बहा रहे हैं। उद्धव जानते हैं कि मनुष्य मोहहेतु ही क्रन्दन करता है और मोहकी उत्पत्ति होती है भ्रमसे। तत्त्वज्ञानका उदय होते ही भ्रम समाप्त हो जाता है और भ्रमके मिटते ही मोह भी दूर हो जाता है। मोहके अपनोदनसे ही क्रन्दनका अशान्त और शोकाकुल वातावरण स्वच्छ बनता है। इसीलिये उद्धव नन्दराजके सम्मुख शास्त्रीय तत्त्वज्ञानका प्रदीप प्रज्वलित कर उनके मोहनाशकी चेष्टा करने लगे।

उद्धव शास्त्रकी साक्षात् मूर्ति हैं और हैं ज्ञानालोकके साधक। उनकी निश्चित मान्यता है कि सत्यका दर्शन ज्ञानालोकसे ही सम्भव है। किंतु उद्धव इस भेदको नहीं जानते कि कोई-कोई वस्तु अन्धकारमें ही दिखायी पड़ती है। पृथिवीके पृष्ठतलपर जितने पदार्थ हैं वे प्रकाशमें ही दीखते हैं। किंतु अनन्त गगनके विस्तारमें जो असंख्य तारकराशि विराजित हैं, उन्हें अन्धकार ही नेत्रगोचर कराता है। जगत्में यदि केवल प्रकाश ही व्याप्त होता तो हम आकाशस्थित अगणित नक्षत्र-मण्डलीके विचित्र राज्यका संवाद कभी भी नहीं जान पाते।

सूर्य अस्त होनेपर जब अन्धकार छा जाता है, तभी

नक्षत्रोंका रूप प्रस्फुटित होता है। यदि किसी व्यक्तिके जीवनका यह व्रत हो कि वह सर्वदा उत्तर दिशामें ध्रुव नक्षत्रपर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करके रखेगा तो सूर्य-प्रकाश उसके इस व्रत-रक्षामें बाधक सिद्ध होता है। प्रकाशाकांक्षी मनुष्यकी तपस्यामें प्रकाशका गौरवस्तम्भ ही बाधक सिद्ध होगा।

गोपराज नन्द एकमात्र इस भावनासे कि 'कृष्ण मेरा पुत्र है', निरन्तर उत्तर दिशामें दृष्टि जमाये हुए हैं और निर्निमेषदृष्टिसे कृष्ण-ध्रुवनक्षत्रको देख रहे हैं। शास्त्र-सूर्यकी मयूखमाला उनके लिये नितान्त ही अवांछित वस्तु है। शास्त्रनिपुण उद्धवकी ज्ञान-सम्पत् नन्दराजके लिये केवल अबोध्य ही नहीं है, बाधक भी है। 'मैं कृष्णका पिता हूँ'—यह निबिड़ अनुभूति नन्दराजके सम्पूर्ण हृदयमें ओत-प्रोत व्याप्त है। इससे भिन्न किसी अन्य भावनाके प्रवेशके लिये उनके हृदयमें स्थान ही नहीं है।

उद्धवने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक सुदीर्घ भाषण दे डाला। उद्धवके स्वकीय अनुभवसे पुष्ट और शास्त्रीय विचारके गौरवसे पूर्ण यह भाषण अनवद्य है। किंतु नन्दराजके चित्तपर उसकी प्रतिक्रिया उद्धवके आशानुरूप नहीं हुई। तत्त्वकथा सुनकर नन्दराज बोल उठे—'उद्धव! तुम वयमें बालक होते हुए भी मेरे अन्तरकी दृढ़ धारणाके अनुसार बुद्धिमें प्रवीण थे। किंतु अब मालूम पड़ा कि धारणा गलत थी। तुम जिस प्रकार वयस्‌में बालक हो, बुद्धिमें भी तद्रूप ही हो।'

तुम बातें तो बहुत जानते हो उद्धव! किंतु यह कतई नहीं जानते कि किसको क्या कहना चाहिये। तुमने मुझे और यशोदाको भाग्यवान् और भाग्यवती कहा है। यदि तुममें

साधारण-सी बुद्धि भी होती तो तुम अपने मुखसे ऐसी बातका उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ कि इस विश्व—संसारमें हमलोगों-सरीखा भाग्यहीन जीव दूसरा नहीं है। इस जगत्‌में जो पुत्र-हारा है, वही भाग्यहीन है और जिसके कृष्णसदृश पुत्ररत्न दूर हो जाय, वह तो नितान्त ही हतभाग्य है।

उद्धव! पुत्र तो बहुतोंके होते हैं, किंतु कृष्ण-सदृश पुत्र किसीको कभी हुआ है या होगा? इतना सुन्दर, मधुर, हास्यमय, लास्यमय, प्रीतिमान्, बुद्धिमान्, चंचल, नटवर, मुरलीमनोहर, जिसकी भाषा ऐसी प्रेमपगी, श्वास ऐसा मधुसुगन्धी हो, निखिल विश्वमें कहीं भी कभी भी न तो आजतक हुआ है न होगा। जो ऐसे महाधनको खोकर उस रत्न-सम्पद्‌के अभावमें आकुल-आर्तनाद कर रहे हों, उनके सम्मुख ही तुम उन्हें महाभाग्यवान् कहते हो तो उनका इससे निकृष्ट मर्मान्तक, विद्रूपमय परिहास और क्या होगा?

उद्धव! ऐसा न कहकर यदि तुम कहते कि इन-जैसा हतभाग्य जीव जगत्‌में और कोई नहीं है तो हम जरा सुखका अनुभव करते। हम समझते कि हमारी हृदय-वेदनाका किंचित् अनुभव उद्धवने भी किया है। सहानुभूतिसे वेदना कुछ हलकी पड़ती।

उद्धव! तुमने मेरे सम्मुख भगवत्तत्त्वकी आलोचना की है। मैं शास्त्रज्ञ नहीं हूँ, स्थूल बुद्धिसे केवल इतना विश्वास करता हूँ कि भगवान् हैं। वे जगत्‌के गुरु हैं और विश्वके नियन्ता हैं। वे पुरुष और प्रकृतिके मूल कारण हैं, वे अनादि अपरिणामी सर्वेश्वर हैं, वे नारायण हैं जो नित्य शालग्रामरूपसे मेरे घरमें विराजमान हैं।

किंतु उद्धव! तुम केवल इन नारायणके स्वरूप-तत्त्वकी बात कहकर ही शान्त नहीं हुए, तत्संग (इसके अतिरिक्त) और एक अद्‌भुत बात भी कह गये हो। तुमने कहा है कि वह नारायण ही मेरा गोपाल है, मेरा कृष्ण है। तुमने ऐसा मन्तव्य निरे बालक होनेके कारण ही व्यक्त किया है। भगवान् क्या वस्तु है, इसका ज्ञान मैंने शास्त्राध्ययन करके तो प्राप्त नहीं किया, किंतु महान् संतोंके मुखसे सुन-सुनकर कुछ थोड़ा-सा जानता भी हूँ। नारायणके जो-जो विशेष लक्षण हैं, वे थोड़े-से मुझे भी परिज्ञात हैं। उन लक्षणोंका स्पर्श भी मेरे कृष्णको कहीं हो पाया है? तुमने ही कहा है कि नारायण निखिल विश्वके कारणके भी कारण हैं। मेरा कृष्ण तो एक क्षुद्र दुग्धपोष्य बालकमात्र है। नारायण शुद्ध, शान्त और अपापविद्ध हैं। कृष्ण दुर्मद, चंचल, लोभी और क्रोधी है। नारायण निर्मल, निर्दोष, शुद्ध सत्त्वगुणमय हैं। कृष्ण चोर, मिथ्याभाषी और अभिमानी है। नारायण निखिल जगत्‌के आश्रय हैं और कृष्ण तो अपने माता-पिताके ऊपर ही पूर्णतः निर्भरशील है।

उद्धव! और कितना बताऊँ? नारायणके साथ तो कृष्णका कोई सादृश्य ही नहीं है। नारायण सत्य-संकल्प हैं और कृष्णको मिथ्या बोलते मैंने—स्वयं सुना है। नारायण आप्तकाम हैं, क्षुधा-तृष्णासे अतीत हैं और मैंने अपने स्वचक्षुओंसे देखा है कि कृष्ण क्षुधा और तृष्णासे व्याकुल होकर अस्थिर हो जाता है। उद्धव! नारायण हमारे प्रणम्य हैं, किंतु कृष्ण तो प्रायः ही मेरी पादुकाएँ सिरपर ढोये मेरे पीछे-पीछे फिरता रहता है। उद्धव! हमारी तो क्या जाने भूल भी हो जाय, किंतु भगवान्‌से तो भूल नहीं हुआ करती। कृष्ण भगवान्

होता तो हमें माता-पिता कहकर सम्बोधन क्यों करता, हमारी सहायताके अभावमें अपनेको इस प्रकार असहाय क्यों मानता? नारायणका एक भी लक्षण कृष्णमें है, यह मुझको तो नहीं दीख रहा है। हाँ, नारायणकी असीम कृपासे यह पुत्ररत्न मिला है, यह बात निश्चितरूपसे जानता हूँ। 'कृष्ण हमारा पुत्र है' यह दृढ़ अनुभूति हमारे हृदयमें व्याप्त है। उस अनुभूतिको मिथ्या प्रमाणित कर सके, ऐसी सामर्थ्य किसी युक्ति एवं तर्कमें नहीं है।

और एक बात सुनो उद्धव! कुछ समयतकके लिये तुम्हारी बात सत्य ही मान लें कि कृष्ण मनुष्य नहीं है, स्वयं भगवान् ही हैं, तो क्या इस तत्त्व-आविष्कारके फलस्वरूप मेरे कृष्णविहीन विरह-तापका बिन्दुमात्र भी अपनोदन हो सकता है? इसके विपरीत मैं तो देख रहा हूँ कि तुम्हारी इन बातोंने मेरी विरह-वेदनाको सहस्रगुणा वर्द्धित ही किया है। हम समझते थे कि हमारा पुत्र ही खोया है—इसलिये अन्तर्वेदना कुछ विस्मृत-सी थी। अब तुमने आकर बताया कि वह केवल पुत्र ही नहीं, भगवान् भी है। अब हम समझ रहे हैं कि केवल पुत्र ही नहीं खोया, भगवान्‌को भी खो दिया। अभीतक मानते थे कि केवल एक काँचका टुकड़ा खो गया, अब तुमने बता दिया कि वह काँचका टुकड़ा नहीं—हीरा था। यह बात जानकर तो मेरी हृदयव्यथा सहस्रगुणा वर्द्धित हो गयी है। उद्धव! तुम बालक हो, तभी तो तुमने घृत उड़ेल कर अग्नि-शमनकी चेष्टा की है। यह कहते-कहते गोपराज अविरल धारासे अश्रुविसर्जन करने लगे।

व्रजवधुओंकी निकटवर्तिता

अर्जुन श्रीकृष्णको सखा कहकर पुकारते थे, उनसे सख्यरसद्वारा ही प्रेम करते थे। विश्वरूप-दर्शनसे—कृष्णके विराट् ऐश्वर्यके कणमात्रके दर्शनसे—उनका सख्यभाव शिथिल हो गया था। सख्य-रसके शिथिल होते ही गौरव-बुद्धिका उदय हो गया था। तभी अर्जुनने विश्वरूपसे क्षमा-याचना की थी।

वसुदेव-देवकीका भी श्रीकृष्णपर वात्सल्य-भाव था। कंसवधके ऐश्वर्य-दर्शनसे वह भाव शिथिल हो गया था। कंसवधके उपरान्त जब कृष्ण-बलराम वसुदेव-देवकीको प्रणाम करने पहुँचे, तो वे अपने पुत्रोंका प्रणाम-ग्रहणका साहस नहीं कर सके। इतनी दीर्घ विरह-अवधिके बाद भी पुत्रोंको समीप पाकर भी वे उनका दुलार नहीं कर सके।

उद्धवने सोचा था—श्रीकृष्ण भगवान् हैं, यह सत्य यदि नन्दराजके हृदयमें प्रवेश करा सकें तो उनका कृष्ण-वात्सल्य अवश्य दुर्बल हो जायगा और यह दारुण विरह-विलाप कम हो जायगा। किंतु अब अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उद्धवने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था, वह बात होनेवाली नहीं है। कृष्णके भगवत्त्व-श्रवणसे नन्दराजका वात्सल्य-स्नेह शिथिल तो हुआ ही नहीं, वरन् और भी गाढ़ हो गया। गोपराजका कृष्ण-वात्सल्य इतनी ऊर्ध्वभूमिपर अवस्थित है कि उद्धवके मुखसे उच्चारित महान् तत्त्व-ज्ञान उसकी ऊँचाईको छू भी नहीं सका।

अनुराग तरल अवस्थामें हो तो उसमें ऐश्वर्यबुद्धि प्रवेश कराकर सम्बन्ध-ज्ञानको शिथिल किया जा सकता है, किंतु

अनुराग यदि गाढ़ा हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं है। जल तरल है, बोरकर ही उसमें हाथ डुबोया जा सकता है। किंतु वही जब हिमखण्डके स्वरूपमें हो तो ऐसा नहीं किया जा सकता, तब उसमें लोहेकी कील ही प्रवेश करा सकते हैं। किंतु लोह-खण्डकी गाढ़ता और भी उच्चस्तरकी होती है, इसलिये उसमें कोई भी वस्तु प्रवेश नहीं करायी जा सकती।

जहाँ कृष्ण-प्रीति तरल है, वहीं अन्य भावनाका प्रवेश सम्भव है। श्रीकृष्ण विराट् भगवान् हैं, यह ज्ञान अर्जुनकी सख्य-प्रीतिमें और वसुदेव-देवकीकी वात्सल्य-प्रीतिमें प्रवेश करानेका यथेष्ट अवकाश था। इसी हेतु उनका कृष्ण-सम्बन्ध-ज्ञान उस ऐश्वर्य-ज्ञानके सम्मुख दुर्बल हो गया था। किंतु नन्द-यशोदाकी कृष्ण-प्रीति इतनी प्रगाढ़ है कि उसमें अन्य भावना या ज्ञानका यत्किंचित् प्रवेश भी सम्भव नहीं है। इसीलिये उद्धवका महान् तत्त्व-कथा-पूर्ण-भाषण नन्दराजके कर्णोंमें प्रवेश करके भी उनके हृदयकी अनुराग-भूमिका स्पर्श करनेमें भी पूर्णतः अक्षम रहा। श्रीकृष्णके प्रति एतादृश प्रगाढ़ प्रेमके सम्बन्धमें उद्धवको कतई ज्ञान या अनुभव नहीं था। वह श्रीकृष्णको भगवान् जानकर ही उनकी भक्ति करते हैं। भगवान्‌को भगवान् जानकर भक्ति करना अच्छी बात ही है, किंतु आश्चर्यकी बात तो यह है कि इसीलिये वह भक्ति घन नहीं हो पाती। नन्दराजने कृष्णको परम प्रेमसे पुत्र बोलकर ही अपना लिया है। अब वह पुत्र भगवान् है—यह श्रवण करके भी उनके अनुरागकी गाढ़तामें कोई लघुता नहीं आने पायी।

भगवान्‌को भगवान् जानकर भक्ति करना ही शास्त्रीय विधि है। उद्धवकी कृष्णभक्ति शास्त्रीय विधिके अनुसार थी।

नन्दराजकी कृष्ण-प्रीति शास्त्रविधिसे ऊर्ध्वस्तरपर स्थित थी। उद्धवकी कृष्ण-प्रीतिके पात्र भगवान् हैं। नन्दराजकी कृष्ण-प्रीतिका कोई हेतु नहीं है, वह अहैतुकी एवं स्वयंसिद्ध है। चक्रवात-रेखा जिस प्रकार दूरसे देखी तो जा सकती है, किंतु कभी भी हाथसे स्पर्श नहीं की जा सकती, उसी प्रकार नन्दराजके कृष्णानुरागको उद्धव बुद्धिद्वारा समझ तो पा रहे थे, किंतु हृदयद्वारा उसका स्पर्श करनेमें सम्पूर्णरूपसे अक्षम सिद्ध हुए थे। उद्धव अपनी इस अक्षमताके प्रति सजग हो उठे। उसके शिखरतक कभी भी चढ़ न सकेंगे, जानकर कांचनजंघा दर्शन करके हम विस्मयान्वित हो जाते हैं। नन्दराजका अनुराग-दर्शन कर भक्तश्रेष्ठ उद्धव इसलिये विस्मयाविष्ट हो गये; क्योंकि उनको अपनी इस अक्षमताका अनुभव हो रहा था कि उस प्रीतिके शिखरपर वह कभी भी आरोहण नहीं कर सकेंगे। उद्धव समझ गये कि नन्दराजको सान्त्वना प्रदान-हेतु मुख खोलनेमें ही उनकी धृष्टता हो गयी है।

उद्धव अब और क्या कहें? बोले—'नन्दराज! यह क्षोभका ही विषय है कि मेरे सदृश अयोग्य व्यक्ति आप-सरीखे कृष्ण-प्रेमिकको सान्त्वना-वाक्य कहनेकी चेष्टा कर रहा है। आपको मैं जो उपदेश-वाक्य बोल गया हूँ, वह मेरी तरफसे नितान्त धृष्टताका कार्य हुआ है। अपनी धृष्टताके लिये मुझे अत्यन्त खेद हो रहा है। अब मैं आपको और प्रबोध-वाक्य नहीं, अपने प्राणोंके ऐकान्तिक अनुभवकी बात ही कहूँगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि श्रीकृष्णने व्रजमें न आनेकी प्रतिज्ञा भी कर ली हो तो भी उन्हें अविलम्ब अपनी प्रतिज्ञा भंग ही करनी पड़ेगी। मेरा निश्चित

मानना है कि श्रीकृष्ण एकमात्र प्रेमके ही अधीन हैं। आपलोगोंका उनके प्रति यादृश अनुराग है, उसके फलस्वरूप वे वृन्दावन आये बिना कतई नहीं रह सकेंगे। आपलोगोंका स्नेह-पारिपाट्य ही उनको आकर्षित करके आपलोगोंका अभीष्ट साधन करायेगा—

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ३४)

नन्दराज! आपको और एक बात कहूँ। आप इतने अधिक कातर न होवें, सर्वप्रकार विवेचनापूर्वक जरा धैर्य रखें। व्रजवासियोंमें आप ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। यदि आप ही इतने धैर्यच्युत होंगे तो फिर अन्य लोगोंको सान्त्वना कौन देगा? आप जिन्हें नन्हा गोपाल ही मान रहे हैं, वे ही निखिल जीवसमूहके एकमात्र परमाश्रय हैं।

नन्दराजके साथ कृष्ण-विषयक बातचीत करते-करते ही सारी रात्रि बीत गयी। कोई भी शय्यापर लेटा नहीं। ब्राह्ममुहूर्त उपस्थित होनेपर उद्धव स्नान-पूजा करनेके लिये घरसे बाहर निकले। बाहर पहुँचते ही कर्णोंमें गोपपल्लीकी दधिमन्थन-ध्वनि सुनायी पड़ने लगी।

व्रजमें कुछेक गोपियाँ ऐसी हैं, जिनका कृष्णानुराग विश्रम्भप्रधान है अर्थात् उन्हें बार-बार कृष्णस्फूर्ति होती रहती है। दिवारात्रिके अधिकांश समय ही उन्हें मालूम पड़ता है, मानो कृष्ण व्रजमें उनके संगमें ही हैं। इसीलिये वे शय्या-त्याग करते ही गोपालके लिये दधिमन्थन-कार्यमें वैसे ही प्रवृत्त हो जाती हैं जैसे कि कृष्णके व्रजमें रहते समय हुआ करती थीं। इसके अतिरिक्त कुछ गोपमाताओंके प्रति नन्दराजका

प्रत्यह प्रातः क्षीर-नवनीत तैयार करनेका आदेश है ताकि वह क्षीर-नवनीत नित्य भृत्यके साथ मथुरा भेजा जा सके। प्रत्यूषकालमें ऐसी आदेश-प्राप्ता सब जननियाँ भी दधिमन्थन-कार्यमें नियुक्त रहती हैं। जो गोपियाँ दधिमन्थन कर रही थीं उनके हाथोंमें थे मणिखचित कंकण। समीपमें ही जो प्रदीप जल रहे थे उनका प्रकाश मणिकंकणोंमें प्रतिफलित होकर कंकणोंकी दीप्तिको उज्ज्वलतर कर रहा था। '**दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजुः**' (१०।४६।४५)। उनके वक्षःस्थलपर शोभायमान हार एवं कर्णकुण्डल मन्थन-रज्जुके आकर्षण-हेतु दोलायमान होकर चंचल हो रहे थे। अरुणवर्ण कुंकुमसे उनके गण्डस्थलोंपर अरुणिम आभा छिटक रही थी। उसके बीच देदीप्यमान मणि-कुण्डलोंकी छटा अत्यन्त नयनाकर्षी हो रही थी। मन्थन-चंचला गोपवधुओंकी छाया दीवालोंकी स्फटिक-भित्तिपर सम्पतित हो रही थी। ऐसी अद्‌भुत शोभा देखते-देखते उद्धव स्नान-हेतु यमुनाके घाटपर पहुँच गये।

उद्धवके गलेमें थी वैजयन्तीमाला, स्वयं गोविन्दने यात्रा-समय अपने गलेकी माला उतारकर उद्धवको पहना दी थी। उद्धवके अंगोंपर शोभित अन्यान्य परिच्छद भी या तो श्रीकृष्णके प्रसाद हैं या स्वयं उनके हाथों पहनाये हुए हैं। उद्धव नहीं चाहते थे कि ये सब जलसे सिक्त हों, इसीलिये इन्हें अपने शरीरसे उतारकर तीरपर सुरक्षित रख दिया और स्नान-हेतु यमुना-जलमें प्रविष्ट हुए। स्नानके उपरान्त तीरपर सुखासनसे उपविष्ट होकर अपने आह्निक कृत्यमें लग गये। तब भी कानोंमें दधिमन्थनकी ध्वनिके साथ करुण स्वर-लहरी मिश्रित होकर प्रवेश कर रही थी।

दधिमन्थनके समय व्रजांगनाएँ प्रेमावेशमें उच्चस्वरसे गा

रही थीं। गानकी विषय-वस्तु थी प्राण-गोविन्दका रूप, गुण, सौन्दर्य और माधुर्य। विरह-वेदना-भरे कण्ठसे स्वरकी जैसी मधुरिमा बिखर रही थी, उसे सुनकर स्वर्गके किन्नर, गन्धर्व और विद्याधर भी स्वयंको हीन समझकर लज्जित हो रहे थे। कण्ठ-ध्वनि और मन्थन-ध्वनि परस्पर आलिंगनबद्ध होकर गगन-मण्डलमें तुमुल नादकी सृष्टि कर रहे थे। विश्वके समस्त लोकोंके कर्णमें प्रवेश करता यह नाद दसों दिशाओंका अमंगल दूर कर रहा था—

'निरस्यते येन दिशाममंगलम्' (श्रीमद्भा० १०। ४६। ४६)

नित्यकर्म करते-करते उद्धव कृष्णानुरागिणी गोपियोंके कण्ठोंसे निस्सृत मधुर कृष्णनाम-ध्वनि श्रवण कर रहे थे। उस मधुर ध्वनिको सुनकर उद्धव इस सीमातक आत्म-चेतनाशून्य हो गये थे कि उनकी जिह्वासे संध्या-वन्दनादिके मन्त्रादि भी स्फुरित नहीं हो रहे थे। उन्हें पुनः-पुनः ऐसा लग रहा था कि गोपी-कण्ठोंकी वह गीत-ध्वनि उनके द्वारा उच्चारित मन्त्रोंकी अपेक्षा कोटिगुणा मधुर और मंगलप्रद है।

किसी भी प्रकारसे नित्यकर्म-समापन करके भक्तराज उद्धव तीरपर आकर कृष्णप्रसादी वस्त्र तथा माल्यादि पुनः धारण करने लगे। उस समय प्रभात हो चला था। व्रजकी वृक्षलताओंपर सूर्यका किरणसम्पात हो रहा था। कुछ नर-नारी बाहर मैदानमें आ-जा रहे थे और नन्दद्वारपर विराट् रथ देखकर वे वार्तालाप कर रहे थे।

'दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥'

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४७)

इतना बड़ा स्वर्णरथ! यह तो किसी ग्रामवासीका नहीं है। इस व्रजपल्लीमें तो गो-शकट हैं, यहाँ इतना बड़ा रथ कहाँसे

आवे? कोई बोली—अरी! इस रथको नहीं पहचानती, यह तो राजधानी मथुराका रथ है। कहते-कहते बोलनेवाली गद्गदकण्ठ हो गयी। दूसरी गोपी बोली— 'अरी, मथुराका रथ नहीं पहचानेगी? मथुराके रथका पहिया तो हमारे वक्षके ऊपरसे निकल गया था। मथुराके रथचक्रको पकड़कर न जाने कितने आँसू बहाये हैं। मथुराके रथचक्रके चिह्न व्रजकी मिट्टीपर और व्रजवासियोंके वक्षःस्थलपर आज भी अक्षुण्ण रूपसे विद्यमान हैं।'

एक अन्य गोपी बोली—अहो, क्या यह वही रथ है, जिसपर आरूढ़ होकर कंसका अर्थ-साधक अक्रूर आया था और व्रजके वक्षसे छीनकर कमलनयनको मथुरा ले गया था? इस प्रकार उस रथको देखकर सभी गोपियाँ आकुल-व्याकुल होकर तरह-तरहकी बातें कहने-सुनने लगीं।

किसी गोपीने प्रश्न उठाया—'वही रथ व्रजमें फिर क्यों आया है? इस पल्लीमें वह अभिशप्त रथ फिर किस उद्देश्यसिद्धि-हेतु दिखायी पड़ा है? यहाँ तो पहलेसे ही सब मरे पड़े हैं, फिर मृतकोंकी इस श्मशानभूमिमें क्रूरशिरोमणि अक्रूरका रथ क्यों आया है?' एक दूसरी गोपीने उत्तर दिया—'मृतकोंकी श्मशानभूमिमें अक्रूरके पुनरागमनका हेतु मैं बताती हूँ, सुन; जानती हो न, उसका स्वामी नीच कंस मर गया है। कोई मनुष्य मर जाय तो बाकी रहता है श्राद्ध और प्रेत-कार्य। श्राद्ध-कार्यमें पिण्डदान करना होता है, उस पिण्ड-हेतु ही अक्रूर यहाँ आया है! अक्रूरको तो यह ज्ञात है कि वह वृन्दावनके सब नर-नारियोंको मृतप्राय कर गया है। इसलिये कंसके श्राद्धमें पिण्डदान-हेतु वह इतने मृत प्राणियोंके हृत्पिण्ड निकालकर ले जानेके लिये ही यहाँ

आया है! इसके अतिरिक्त कंसकी राजधानीके रथके इस पल्ली-श्मशानमें आनेका अन्य क्या हेतु हो सकता है?

आलोचनारत व्रजांगनाओंके इस हृदय-विदारक वार्तालापके शब्द उद्धवके कर्णोंमें पहुँचे। उद्धवने व्यथित प्राणोंके इतने आर्ति-परिपूर्ण शब्द, इतनी हृदय-विदारक वाणी आजतक अपने कर्णोंसे कहीं नहीं सुनी थी। इस वार्तालापके माध्यमसे विरह-विधुरा गोपियोंके हृदयमें जो जलन है, उसकी किंचित् आँच उद्धवतक पहुँची। उद्धवको लगा कि उन्हें व्रजमें तो यहाँकी रजमें लोटते-पोटते ही आना चाहिये था। रथमें सवार होकर यहाँ आना उचित कार्य नहीं हुआ। फिर एक विचार उठा कि इस विरह-व्याकुल व्रजमें तो वह नितान्त असुन्दर लगते हैं, उनका यहाँ आना ही अशोभनीय कार्य हुआ है। उनकी इच्छा हुई कि यदि धरित्रीदेवी अभी विदीर्ण हो जायँ तो वे इस रथसमेत भू-विवरमें प्रवेश करके किसी प्रकार इस असुन्दरताको दूर कर देते। अपराधसंकुचित उद्धवके मनको इस प्रकारकी विविध भावनाएँ उद्वेलित करने लगीं।

यदुपतिकी मित्रता

उद्धव भारी हृदयसे अग्रसर हो रहे हैं। चारों दिशाओंसे नर-नारियोंकी समुत्सुक दृष्टि उन्हींपर लगी हुई है। वे उनके द्वारा सभी दिशाओंसे घिर गये। वे परस्पर अनेक प्रकारका वार्तालाप करने लगीं—

'अहो! ये कौन हैं, जो हमारी ओर धीरे-धीरे चले आ रहे हैं। इनके शरीरका वर्ण तो श्यामकी तरह ही श्यामल है। कटिपर बँधी धोती भी पीली ही है। मुख भी चन्द्रमा-जैसा लावण्ययुक्त है। वदनमण्डल-मध्यवर्ती दोनों नेत्र नवीन पद्मपत्र-सदृश हैं (**नवकञ्जलोचनम्**)। इनकी भुजाएँ भी व्रजसुन्दर-जैसी ही आजानुलम्बित, वर्तुलाकार और स्थूल हैं। इनके करमें वेणु नहीं होते हुए भी करतल वेणुधर-जैसा ही रक्ताभ है और हाथकी अंगुलियाँ चम्पककली-सदृश हैं। वयस् भी नवकिशोर है। गमनभंगी नटवर-सदृश ही है। सर्वांगोंसे सौन्दर्यका सरोवर छलक-सा रहा है। कौन हैं ये? श्यामवर्ण अवश्य हैं; पर श्याम तो नहीं हैं।'

श्रीमान् उद्धवके रूप और वेश-भूषाका दर्शन कर व्रज-वधुएँ विस्मयान्वित हो रही हैं। एक गोपी अपनी सखीसे कह रही है— 'सखि! हमारे व्रजसुन्दरका भी समवयस्, समरूप इस विश्वमें कोई अन्य है, यह बात मुझे पूर्णतया अज्ञात थी। रूप और गुणमें श्यामसुन्दर अद्वितीय हैं, असमोर्ध्व हैं, किंतु आज यह क्या आश्चर्य देख रही हूँ। हमारे श्यामसुन्दरके सदृश रूपवाले ये उन्हीं-सरीखी गतिभंगीसे हमारी ओर अग्रसर हो रहे हैं। इनके अंगोंपर जो वसन-भूषण भी दीख रहे हैं, वे सभी श्यामसुन्दर-जैसे ही हैं।'

एक अन्य सखी बोली—'सखि! इनके वसन-भूषण श्यामके-से हैं, ऐसा क्यों कह रही हो? ये श्यामके सदृश नहीं, श्यामके ही हैं। उनके कटिका पीताम्बर, देहस्थ उत्तरीय, गलेकी माला और सर्वांगोंके अलंकार—सभी अच्युत-सरीखे नहीं, अच्युतके ही हैं। श्यामके श्रीअंगोंपर व्यवहृत द्रव्यादिमें सर्वदा उनके शरीरकी निरुपम सुगन्ध लगी रहती है। उस सौरभके पहचाननेमें अन्य किसीकी भले ही भूल हो जाय, किंतु हमारी नासिकाद्वारा इस विषयमें भूल करनेका प्रश्न ही नहीं उठता। चिर-परिचित अनन्यसाधारण श्यामकी अंग-सुरभि हमारी नासिकामें सदा प्रवाहित ही रहती है। अतएव लगता है—श्यामद्वारा यह सब द्रव्य अपने अंगोंसे उतारकर रखते ही ये महाशय उन्हें धारण करके चले आये हैं। इसीलिये विचार कर रही हूँ कि ये कौन हो सकते हैं? वसन-भूषण श्यामके हैं, परंतु श्याम नहीं हैं।'

जिस दिन श्रीकृष्ण व्रजसे मथुरा जा रहे थे, उस दिन भाव-विरह-कातरा व्रज-वधुएँ अक्रूरके रथको रोकने-हेतु अस्त-व्यस्त वेषमें ही घरोंसे बाहर निकल आयी थीं। 'मैं लौटकर आऊँगा' कहकर कृष्णके चले जानेके बाद सतत रुदनशील गोपियाँ लौटकर अपने-अपने गृहोंमें प्रत्यावर्तन नहीं कर सकीं। तदवधि वे सतत 'हा कृष्ण, हा कृष्ण' पुकारती हुई कुंजवनोंके भीतर-बाहर और गलियोंमें ही तप्त अश्रुपात कर रही हैं। वे जिन स्थानोंमें अवस्थान कर रही हैं, वे स्थान साधारण मानवके लिये दुरधिगम्य हैं। उनके स्थानोंके समीपसे बीसों बार निकल जानेपर भी कुंजोंके ये सब पथ दृष्टिगोचर नहीं होते।

अन्योंके लिये अगम्य इन कुंजवीथियोंके पथपर आज उद्धव अग्रसर हो रहे हैं। वे कृष्णके निजजन हैं—ऐसा बोलकर ही यह सम्भव हुआ है अथवा उनके अंगोंपर कृष्णके प्रसादी द्रव्यादि हैं,

इसलिये भी ऐसा सम्भव हो पाया हो। शास्त्रोंमें आया है, भक्तगण भगवान्‌से कहा करते हैं—

त्वयोपयुक्तस्त्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥

'नाथ ! आपकी माया दुरत्यया है अवश्य, किंतु आपके दास हम तो उसको अनायास ही जय कर लेते हैं। आपको अर्पित माला, आपके व्यवहृत वस्त्र, अलंकार, सुगन्ध, प्रसाद प्रभृतिद्वारा देहको भूषित किये रहते हैं, इसलिये आपकी मायाके आवरणको हम ग्राह्य ही नहीं करते।' जिसकी देहपर श्रीकृष्णके प्रसादी द्रव्य धारण किये हुए हों, माया तो लज्जासे अपना मुख अवनत करके उनके सामनेसे अत्यन्त दूर हट जाती है। इसलिये कुंज-पथपर जो योगमायाका पर्दा था, वह आज उद्धवके सामनेसे अनायास ही अपसृत हो गया।

उद्धवको आते देखकर जिस प्रकार कोई-कोई गोपी इनका परिचय जानने-हेतु आलोचना कर रही थी, वैसे ही दूसरी कोई यह समझ भी गयी थी कि ये कृष्णके निजजन हैं और कृष्णके संदेशवाहक हैं (**संदेशहरो रमापतेः**); कारण, कृष्णके निजजनके अतिरिक्त अन्य कोई उस निभृत कुंजके पथपर पैर रख सके—ऐसी सामर्थ्य किसमें है? साथ ही कृष्णके प्रियजनके अतिरिक्त कृष्णके प्रसादी द्रव्योंका अधिकारी भी अन्य कोई किस प्रकार हो सकता है?

व्रजांगनाओंने श्रीउद्धवको श्रीकृष्णके समान रूपवाला देखा है, किंतु यह एक अत्यन्त आश्चर्यका ही विषय है कि उन्होंने उद्धवको 'ये श्रीकृष्ण ही हैं' ऐसा समझकर दौड़कर उन्हें आलिंगनबद्ध नहीं किया। कृष्णके साथ सामान्य यत्किंचित् साम्यदर्शन करके भी उन्होंने तमालको, मेघको, यमुनाके काले

जलको यहाँतक कि गहरे अन्धकारको भी कृष्ण समझकर उसको आलिंगनबद्ध कर चुम्बन किया है। किंचिन्मात्र सादृश्य मिलते ही जिन गोपियोंको अप्राणीमें भी घन-घन कृष्णभ्रान्ति होती थी, वे ही आज उद्धवके समान एक जीवन्त व्यक्तिको देखकर भी कृष्णभ्रान्तिसे भ्रमित नहीं हुईं।

हृदयका विशुद्धभाव ही उनका अभ्रान्त नेत्र है। उद्धवको कृष्ण समझकर आलिंगन करनेसे रसराज्यमें वह नितान्त ही दोषावह हो जाता। गोपियोंके चित्तका निर्मलभाव ही उनकी धर्ममर्यादाका रक्षक है। जिनके सतीत्वकी लक्ष्मी, पार्वती, अरुन्धती भी वाञ्छा करती हैं, वे क्या कभी भी कृष्णभिन्न अपर पुरुषका स्पर्श कर सकती हैं? रसावह न हो, ऐसा कोई कार्य उनके द्वारा नितान्त उन्माद-अवस्थामें भी कुत्रापि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार मानवदेहमें एक प्रकारकी रक्षाकी शक्ति विद्यमान रहती है। नेत्रोंमें कोई धूलिकण प्रवेश करता हो तो नेत्र अपने-आप ही जिस प्रकार बंद हो जाते हैं, उसी प्रकार महाभावमयी गोपांगनाओंकी भावमयी देहमें भी एक अनिर्वचनीय शक्ति-विशेष विद्यमान है, जो उनकी सर्वविध मर्यादाकी स्वतः ही सर्वतोभावसे रक्षा करती है। इसीलिये जो तमालको भी कृष्ण मानकर छातीसे कसकर लगा लेती हैं, उन्होंने आज उद्धवको प्राणनाथके भ्रमसे स्पर्श नहीं किया, किंतु उन्हें चारों ओरसे घेर अवश्य लिया।

कृष्णकृपासे उद्धव अतीव रहःस्थानमें पहुँच गये हैं। व्रजके बाहर जैसा किसीने कभी नहीं देखा था—उद्धवको वहाँ वैसी ही महाभावकी घनीभूत मूर्तियाँ देखनेको मिलीं। वे विरहताप-दग्ध भावघन श्रीविग्रह-सकल भस्माच्छादित अग्नि-सदृश लग रही

थीं। उद्धवने उन व्रज-देवियोंका किंचित् दूर रहकर ही अत्यन्त भक्तियुक्त चित्तसे दर्शन किया।

क्षीणाङ्गाः स्रस्तकेशा मलशबलपटाः
प्रज्वलत्संनिकृष्टा
दृष्टास्ता जातवेदस्ततय इव वृता
धूमभस्मादिभिर्याः।
किंच व्यग्राक्षियुग्मा दलदधरदल-
श्वासवर्गा मुखान्तः-
शोषा योषा मृगाणामिव दवदवनात्
त्रस्तनेत्रा विमृष्टाः॥

(उत्तरगोपाल-चम्पू ११। ३)

उनके अंग-प्रत्यंग अत्यन्त क्षीण थे। केशपाश नितान्त अयत्नवश अस्त-व्यस्त होकर उलझे पड़े थे। उनके द्वारा परिहित वस्त्रखण्ड अत्यन्त मलिन हो गया था। धूमभस्मावृत अग्नि-सदृश उनकी अंगकान्तिकी समुज्ज्वल छटा आज निष्प्रभ हो रही थी। श्रीकृष्ण-वदन-दर्शनकी सुतीव्र लालसा-हेतु उनके नेत्र सुव्यग्र, पिपासार्त और सुचंचल हो रहे थे। सुदीर्घ निःश्वासद्वारा परित्यक्त तप्त वायुके चाप और तापसे उनके अरुणाधर मानो विमर्दित एवं विदलित हो रहे थे। दावानल-तप्त वनमृगीकी चकित चाहनीमें जिस महाभीतिकी झलक रहती है, वैसी ही झलक आज कृष्णविरहभीता-गोपांगना-समुदायके श्रीमुख और नेत्रोंमें सुप्रकट थी। किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यके फलस्वरूप, विरहरसकी अधिष्ठात्री देवीरूपसे वनप्रान्तमें विराजमान व्रजरामाएँ (अथवा व्रजरामगण) आज उद्धवको दृष्टिगोचर हुईं।

अत्यन्त समीपस्थ उद्धवको व्रजवधुओंने रमापतिका संदेशवाहक दूत कहकर पहचान लिया। पहचानते ही उन्हें बैठनेके लिये एक

क्षुद्र आसन अर्पण किया—गोपियोंके हृदय-सरीखा ही सैकड़ों स्थानोंमें जीर्ण-शीर्ण-छिन्न एक मलिन आसन। पूज्यजनोंद्वारा प्रदत्त आसनको ग्रहण करना सदाचारसम्मत नहीं है। उद्धव हैं कृष्णदासाभिमानी। प्रभुकी प्रियाओंद्वारा प्रदत्त आसनपर उपवेशन करनेसे शुद्ध आचारकी मर्यादा क्षुण्ण होती है। कृष्णदास ऐसा नहीं करते। उद्धव इसीलिये उस आसनपर बैठ नहीं पा रहे थे, किंतु पक्षान्तरमें जिन्होंने आसनपर बैठनेका आदेश दिया था, उन पूज्यजनोंके आदेशके उल्लंघनके अपराधकी भी आशंका हुई। अतएव उद्धवने आसन और आदेश—इन दोनोंकी मर्यादा-रक्षा की। आसनको दक्षिणहस्तसे स्पर्श करके वे अवनत-मस्तक होकर उसके पार्श्वमें उपविष्ट हुए।

श्री-ग्रन्थके मूलश्लोकमें उल्लेख है '**उपविष्टमासने**' यहाँ सप्तमी विभक्तिको '**सामीप्याधिकरणे**' प्रयुक्त मानकर व्याकरणकी मर्यादा-रक्षा भी करनी होगी। उद्धव आसनके समीप बैठ गये। इससे पूर्व व्रजरामाओंने उद्धवको कभी देखा भी नहीं था, तथापि वे सब चिर-परिचितकी तरह उद्धवको घेरकर बैठ गयीं। पद्मके कोषमें मधु रहता है, उसीकी गन्धसे आकृष्ट होकर मधुप पद्मपर मँडराने लगता है। उद्धव भक्त हैं, सतत कृष्णपादपद्म-ध्यानरत हैं। उद्धवके हृदयमें श्रीकृष्ण-चरणाम्बुज विराजित है। उसकी सौरभसे आकृष्ट होकर मानो व्रजसुन्दरियाँ अलिकुल-सदृश उद्धव-पद्मको वेष्टन करके बैठ गयीं।

आगमनका प्रयोजन

व्रजनिकुंज विजातीय भावके लिये अगम्य है। उद्धव उसी निकुंजपथसे होकर आये हैं। अतः गोपबालाएँ समझ गयीं कि ये कृष्णके निजजन हैं एवं उनके किसी विशेष संदेशके वाहक हैं। एक गोपी अत्यन्त क्षीण कण्ठसे बोली—

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।

(श्रीमद्भा० १०।४७।४)

'तुम यदुपतिके पार्षद हो, यह हम समझ गयी हैं।' यदि कहो कि परिचय दिये बिना ही कैसे समझ गयी? तो बताती हैं, सुनो। तुम हमारे नेत्रोंके लिये अपरिचित अवश्य हो, किंतु देह-गन्ध हमारे घ्राणेन्द्रियोंकी चिर-परिचित है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि परिचय-ग्रहणमें चक्षुओंका ही एकाधिकार हो। नासिकाकी योग्यता भी प्रश्नातीत है। दूसरेकी बात तो नहीं जानतीं, किंतु हमारी नासिका इस विषयमें अभ्रान्त है। अंग-गन्धसे ही हमने पहचान लिया है कि तुम यदुपतिके पार्षद हो।

गोपियोंने यहाँ श्रीकृष्णका परिचय 'यदुपति' कहकर दिया है। गोपियोंके साथ सम्प्राणता-हेतु श्रीशुकदेवने भी श्रीकृष्णके लिये 'रमापति' शब्दका प्रयोग किया है। अब श्रीकृष्ण व्रजवल्लभ नहीं रहे। उस सम्बन्धकी भित्ति जो प्रीति थी, उसे अब उन्होंने झाड़-पोंछकर त्याग दिया है। प्रीतिका त्याग कर उन्होंने उसकी जगह ऐश्वर्यको अपनाया है। इसलिये व्रजपतिसे रमापति बन गये। व्रजजनोंको भूल-भालकर यदुजनोंके साथ घुल-मिल गये हैं। इसी हेतु 'व्रजनाथ' न कहकर 'यदुनाथ' अर्थात् यदुपति कहना ही संगत है। पुष्प लतापर लगा रहता है, तबतक लताका परिचय देता है। वहाँसे चुनकर किसी मालामें

गुँथे जानेके बाद मालाका ही परिचय देता है। व्रजके प्राणसर्वस्व गोपाल आज राजवंशी यादवोंके अधीश्वर हैं। अतएव नवीन परिचय ही उचित है, पुराने परिचयसे क्या लेना-देना। अवलुप्त सम्बन्धके प्रयोगकी उपयोगिता अब कहाँ रही?

अच्छा उद्धव! तुमसे एक बात पूछें—इस मूल्यवान् वेश-भूषामें तुम स्वयं ही सज-धजकर आये हो या तुम्हारे प्रभुने इन कंगालिनी वनवासिनियोंके समक्ष अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने-हेतु तुम्हें सजा-धजाकर यहाँ भेजा है? और भी एक बात जिज्ञास्य है कि इस गोव्रजमें तुम स्वयं-प्रवृत्त होकर आये हो या किसीने तुम्हें यहाँ भेजा है? ऐसा तो नहीं लगता कि तुम स्वयं-प्रवृत्त होकर आये हो; क्योंकि इस गोचारण-भूमिमें राजपुरुषोंको कोई प्रयोजन नहीं रहा करता। किंतु यदि प्रभुने आदेश दिया हो (**भर्त्रेह प्रेषितः**) तो फिर सब कुछ सम्भव है। दास होकर अपने प्रभुके आदेशका उल्लंघन नहीं कर सके, सम्भवतः इसीलिये चले आये हो। किंतु यह समझमें नहीं आता कि तुम्हारे प्रभुने भी तुम्हें इस गोचारण-भूमिमें किस हेतुसे भेजा है? ऐसा कौन-सा कार्य है जो तुम्हें यहाँ सिद्ध करना है?

यदि कहो कि हमलोगोंकी खबर लेने भेजा है, तो यह बात विश्वसनीय नहीं है; क्योंकि हम उनके कुछ भी नहीं लगतीं, न वे हमारे कुछ लगते हैं। उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा कभी नहीं था। हाँ, एक सम्बन्ध—प्रीतिका सम्बन्ध था अवश्य, किंतु वह सम्बन्ध तो स्वीकृतिसे ही जीवित रहता है, अन्यथा उसकी मृत्यु हो जाती है। सुदीर्घ अस्वीकृतिके फलस्वरूप वह सम्बन्ध सदाके लिये छिन्न-भिन्न हो चुका है। अतएव इस गोचारण-क्षेत्रमें उनके स्मरणयोग्य कुछ है, यह हमलोगोंकी समझसे बाहर है।

'गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।'

(१०। ४७। ५)

फिर भी ऐसा कहना सम्पूर्ण यथार्थ नहीं हुआ। हाँ, ऐसा भी एक स्थान है जहाँका सम्बन्ध वह किसी भी प्रकारसे अस्वीकार नहीं कर सकते। एक घट तैयार करनेमें कुम्भकारको चक्र, दण्ड और मृत्तिका—इन तीन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। घट चाहे तो चक्र और दण्डको अस्वीकार कर सकता है—गर्वके साथ कह भी सकता है कि मेरे सृजनमें किसी चक्र या दण्डका कृतित्व नहीं है, किंतु मृत्तिकाको वह कभी अस्वीकार नहीं कर सकता। घट ऐसा कभी नहीं कह सकता कि मेरे निर्माण-कार्यमें मृत्तिका काम नहीं आयी। कारण स्पष्ट है—मृत्तिका तो अभी भी उसकी देहमें व्याप्त है, उसकी सत्ता ही तो मृण्मय है, अतएव मृत्तिकाको अस्वीकार करनेका कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार तुम्हारे यदुपति हमलोगोंके साथ अपना सभी सम्बन्ध अस्वीकार कर सकते हैं, किंतु अपने माता-पिता व्रजराज एवं व्रजेश्वरीके साथ अपना सम्बन्ध किसी भी प्रकारसे नहीं झुठला सकते। मातृ-पितृ-सम्बन्ध तो गृहत्यागी ऋषि-मुनि भी त्याग नहीं कर पाते (**मुनेरपि सुदुस्त्यजः** ४७। ५)। नन्द-यशोदासे ही उनकी यह देह उत्पन्न हुई है। उनके दिये नित्य दुलारसे ही उनकी यह प्राणलुभानी अद्वितीय कान्तिमय देह वर्द्धित हुई है। अतएव उन्हें भूल पाना सम्भव नहीं हुआ; कारण उनके साथ सम्बन्ध-त्याग करनेसे तो निजका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाता है, इसीलिये सम्भवतः उन्हें सान्त्वना देने-हेतु ही तुम्हें व्रजमें भेजा है।

नन्द-यशोमतीका स्नेहानुबन्धन दुस्त्यज है। इसीलिये मधुपतिने मधुपुरीसे तुम्हें यहाँ भेजा है। खैर, यह भी अच्छा ही हुआ, किंतु यह बात सोचकर हमें बड़ा खेद होता है कि कंगालका पुत्र यदि

भाग्यवश राजपदवी प्राप्त कर लेता है तो कंगाल माता-पिताके भाग्यमें पुत्रकृत इस प्रकारकी अवमानना ही लिखी होती है। जिनके हृदयपूर्ण स्फुरन्त स्नेहसे एक दिन लालित-पालित-पोषित हुए थे, आज उनका संवाद लेनेके लिये एक चाकरको भेज रहे हैं—स्वयं आनेका कष्ट कौन उठावे?

खैर, अच्छा ही हुआ, एक बात पूछें—तुम्हारी देहपर जो ये महार्घ्य वसन-भूषण शोभा पा रहे हैं, उन्हें क्या तुम स्वयं ही धारण कर आये हो या उन्होंने अपने माता-पिताको दिखानेके लिये इन्हें तुम्हारे शरीरपर अपने हाथोंसे पहनाये हैं? माता-पिताको मधुपुरीके ऐश्वर्यकी चकाचौंध दिखाकर उन्हें सान्त्वना देनेके लिये तो नहीं भेजा है?

खैर, अच्छी बात है मथुराके राजदूतजी! यदि माता-पिताको ही संवाद देने आये हैं तो दिशाभ्रष्ट होकर—पथ भूलकर इधर क्यों चले आये? वहाँ जानेका यह रास्ता तो नहीं है। तुम यहाँसे बाहर निकलकर उधरके रास्ते होकर सीधे चले जाओ। यथासम्भव शीघ्र जाकर उनके माता-पिताके साथ साक्षात् करो। वे लोग तुम्हें देखकर महान् आनन्द-सिन्धुमें डूब जायँगे। कारण, विरहकातर माता-पिताको—धूलि-मलिन चीथड़ोंसे आवृत-देह नन्द-यशोदाको संदेश पहुँचानेके लिये पुत्रने अपने भृत्यको भेजा है—मथुराके ऐश्वर्यसे भृत्यकी देहको साज-सँवारकर माता-पिताको निज वैभवकी चकाचौंध दिखानेके लिये। यह सब जानकर और देखकर माता-पिताके आनन्दकी कोई परिसीमा नहीं रहेगी। जाओ, शीघ्र जाओ, यह पथ छोड़कर उधरके उस पथसे शीघ्र अग्रसर होओ।

गोपांगनाओंकी बातें सुनकर उद्धव अत्यन्त मर्माहत हुए। उन्होंने समझ लिया कि इस प्रकारके बहुमूल्य पोशाक-परिच्छदसे

सज्जित होकर उनका व्रजमें आना नितान्त ही अशोभनीय कार्य हुआ है। व्रजके लिये प्रस्थान करते समय जब श्रीकृष्णने स्वहस्तोंसे उन्हें इस साजसे सजाया था तो उन्हें लगा था कि उनका जीवन धन्य है और अब विरह-मलिन गोपरामाओंके सम्मुख खड़े-खड़े स्वयंको और अपने वस्त्र-अलंकारोंको सहस्रों धिक्कार देते हुए वे सोचने लगे कि यदि माँ धरित्री कृपा करके द्विखण्डोंमें विदीर्ण हो जाती तो वे उसके गर्भमें प्रवेश कर जाते। धरित्री-गर्भके किसी गाढ़-अन्धकारमय कोनेमें प्रवेश करके किसी महावेदनाकी घन-मसी अपने वदन और वसनोंपर लेप करके बाहर आ जाते। ऐसा होनेपर ही सम्भवतः ऐसी विरह-मलिनताके पार्श्वमें खड़े होनेकी किंचित् योग्यता उन्हें प्राप्त होती। उद्धव अपने रोम-रोममें तीव्र ग्लानिका अनुभव करने लगे। गोपियोंकी विरह-मलिनताके पार्श्वमें उनके वसन-भूषणकी छटा कैसी विडम्बना है। 'सर्वसहा' धरणीकी ओर दृष्टि जमाये हुए उद्धव अपना अत्यन्त आत्मग्लानिपूर्ण हृदय थामे हुए वहाँ मौन खड़े रहे।

गोपियोंकी मर्मव्यथा

व्रजांगनाएँ बोलीं—'श्रीदाम, सुबलप्रभृति श्रीकृष्ण-सखाओंने मथुरासे लौटकर हमारे सम्मुख आपका नाम अनेक बार लिया है और यह भी सुना था कि आपका रूप-गुण, वेश-भूषा अधिकांशमें श्रीकृष्ण-सरीखे ही हैं। इसीलिये आपको पहचाननेमें हमें विलम्ब नहीं लगा। आपके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी बातें हमारे कानोंमें पड़ी हैं। सुना है, मधुपुरीमें श्रीकृष्णके रसिक सखाओंमें आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये एक बातकी जिज्ञासा करनेकी हमारी इच्छा हो रही है।

'अच्छा, उद्धवजी! जरा बतायें तो सही, कौन-सी प्रीति नष्ट हो जाती है और कौन-सी चिरकालस्थायी रहती है?' हमारी धारणा है कि जो प्रीति सहैतुकी है, वह नष्ट हो जाती है और जो प्रीति अहैतुकी है, वह सदा स्थिर रहती है। कोई भी वस्तु हो या भाव-बन्धन हो, जिसकी उत्पत्तिके मूलमें हेतु विद्यमान है, वह तो हेतुके नाश होते ही नष्ट होगी ही; किंतु जिसका कोई कारण नहीं होता, जिसका प्रकाश स्वतः सहज एवं अहैतुक है, वह किसी भी कालमें विनष्ट नहीं होता। तब तो अहैतुकी प्रीति अविनाशी हुई न?

उद्धव! यदि यह सही है तो फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि श्रीकृष्णके साथ हमारा जो प्रीतिका सम्बन्ध था, वह पूर्णतया कैसे मिट गया? तुम्हारे प्रभुके साथ हम जो प्रीति करती थीं, उसका तो कोई हेतु नहीं था, उससे कोई प्रयोजन-सिद्धि करनेकी अभिसंधि नहीं थी; और वे भी हमसे जो प्रीति करते थे, उसमें भी किसी उद्देश्य-सिद्धिका अभिप्राय न था। यह तो विशुद्ध वस्तु थी। प्रीतिका एतादृश विशुद्ध सम्बन्ध समूल नष्ट कैसे हो गया?

इस प्रकारकी अहैतुकी श्रद्धा और प्रीतिको भी प्रभुने किस कौशलसे पूर्णतया अस्तित्वहीन कर दिया?

'उद्धवजी! हेतुज प्रीति विनाशशील है, इसके दृष्टान्त जगत्‌में भरे पड़े हैं; किंतु इसके विपरीत दृष्टान्त एक भी दिखायी नहीं पड़ता। सुनो, विनाशशील प्रीतिके थोड़े-से दृष्टान्त बतायें। भ्रमर जब प्रस्फुटित पुष्पसे प्रीति करता है, तब कितने गुण गाता है, कितना मुखचुम्बन करता है; किंतु वह प्रीति स्थायी नहीं होती। जब मधु समाप्त हो जाता है, तब वह प्रीति भी समाप्त हो जाती है। उस प्रीतिका हेतु था मधु— '**तत्सत्त्वे तत्सत्ता तदसत्त्वे तदसत्ता।**' कामुक पुरुष स्वार्थ-सिद्धि-हेतु रमणीके प्रति प्रीतिका अभिनय करता है। स्वार्थ-पूर्तिके साथ-साथ ही प्रीतिपात्रके प्रति अनादर दृष्ट होता है। '**पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः**'—(श्रीमद्भा० १०।४७।६) गणिका भी धनी युवकके प्रति उतने दिन ही प्रीति-प्रदर्शन करती है, जबतक उसके पास धन है। धन-समाप्तिके साथ-साथ ही प्रीति भी समाप्त हो जाती है। प्रीतिका हेतु ही था धनप्राप्ति। उसी स्वार्थके लिये प्रीतिका अभिनय था, उस उपाधिके अभावमें प्रीति भी शून्यमें विलीन हो गयी— '**निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः।**' प्रजा भी राजासे जो प्रीति करती है, उसके मूलमें यह भावना है कि राजा प्रजाका कल्याण-साधन करेंगे। जब राजामें प्रजापालनकी शक्ति नहीं रह जाती अथवा शक्ति होते हुए भी जब राजा प्रजाके मंगल-साधनसे उदासीन हो जाता है, तब परम राजभक्त प्रजा भी राजाके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देती है। 'कल्याण होगा'—इस हेतु या उपाधिपर राजा-प्रजाकी प्रीति स्थापित है। हेतुनाशसे प्रीतिनाश अवश्यम्भावी है—'**अकल्पं नृपतिं प्रजाः**'—(श्रीमद्भा० १०।४७।७)।

'छात्र भी अपने आचार्यसे तबतक ही प्रीति करते हैं जबतक कि विद्यार्जनका कार्य परिसमाप्त नहीं होता। अध्ययन समाप्त होनेपर फिर आचार्यकी याद भी नहीं करते; कारण, विद्याध्ययनरूपी स्वार्थोपसाधन-हेतु ही छात्र अध्यापकसे प्रीति करते थे, उसके अभावमें प्रीति टिकेगी कहाँ? '**अधीतविद्या आचार्यम्**'। पुरोहित भी यजमानके प्रति तभीतक प्रीतिका निदर्शन करते हैं, जबतक कि दक्षिणा-दान प्राप्त नहीं हो जाता। '**ऋत्विजो दत्तदक्षिणम्**' (श्रीमद्भा० १०। ४७। ७)। पुरोहितका हेतु था दक्षिणा-लाभ। उसके अदृश्य होते ही प्रीतिका फिर क्या अवलम्बन रहा? पक्षिगण वृक्षसे प्रीति करते हैं, झुंड-के-झुंड आकर वृक्षकी शाखाओंपर वास करते हैं; किंतु कितने दिन? जबतक वृक्षपर फल लगे हैं। फल समाप्त हो जानेपर फिर एक भी पक्षी उस वृक्षकी दिशामें ताकता भी नहीं। उपाधि थी फल-भोग। फल गये, प्रीतिका अभिनय भी गया। पथिक पथ चलते-चलते गृहस्थके गृहपर आतिथ्य ग्रहण करता है। उस गृहीके प्रति पथिक तभीतक आदरका प्रदर्शन करता है, जबतक कि उसका भोजन-कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता। भोजनरूपी स्वार्थसम्बन्ध लेकर ही गृहीके प्रति अतिथिकी प्रीति है। भोजनकी निष्पत्ति होनेके बाद फिर आदर करनेकी क्या आवश्यकता है? '**खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्**'—(श्रीमद्भा० १०। ४७। ८)।

'मृगगण वनके प्रति तभीतक प्रीति-प्रदर्शन करते हैं, जबतक कि वन दावानलसे भस्म नहीं हो जाता। दावानल-दग्ध वनके प्रति मृगोंका कोई झुकाव नहीं रहता; कारण, अरण्यवासरूपी स्वार्थोपाधि-हेतु ही मृगोंका वनके प्रति प्रेम रहता है। जब वासरूपी उपाधि ही नहीं रही तो फिर वनसे क्या लेना-देना। '**दग्धं मृगास्तथारण्यम्**'—(श्रीमद्भा० १०। ४७। ८)।

जो जार पुरुष होते हैं, वे पर-रमणीका भोग करनेके पश्चात् उसको त्याग देते हैं '**जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्।**' (१०। ४७। ८)। इसी प्रकार सभी साधकोंपर सामयिक प्रीतिका अभिनयमात्र होता है, वस्तुतः प्रीति नामकी कोई वस्तु वहाँ नहीं हुआ करती। भोगरूप उपाधि-हेतु ही मिलन होता है, उपाधिका अभाव होते ही परित्यागकी क्रिया सम्पन्न हो जाती है। यह सभी सहैतुकी, सकैतव, सोपाधिक प्रीतिके दृष्टान्त हैं; किंतु उद्धव! हमने तुम्हारे प्रभुसे जो प्रीति की थी, उसमें कभी भी किसी प्रयोजन-सिद्धिकी अभिसंधि नहीं थी और उन्होंने भी हमें न जाने कितना प्यार दिया है, किंतु उनके प्रेममें भी हमें कुत्रापि किसी प्रयोजन-सिद्धिका आभासतक नहीं दीख पड़ा। यदि यही सत्य है तो फिर भी अहैतुकी, अकैतव प्रेममें भी विरहका ऐसा प्रबल संताप क्यों भोगना पड़ा? कैतवका अर्थ है छलना। सुना है, कैतवहीन विशुद्ध प्रेममें विरह नहीं होता। उद्धव! यदि तुम रसिकशेखरके रसिक सखा हो तो इस प्रश्नका अवश्य उत्तर दे सकोगे और यदि इसका उत्तर नहीं दे सकोगे तो हम समझेंगी कि तुम अन्य शास्त्रोंके महान् पण्डित होते हुए भी रसशास्त्रसे नितान्त अनभिज्ञ हो।

'उद्धवजी! हम श्रीकृष्णके विरह-हेतु जितनी व्याकुल हैं तदपेक्षा अधिक मर्माहत तो इस भावनासे हैं कि निरुपाधि प्रीतिमें भी कलंक लग गया। जिस प्रीतिमें तिलमात्र भी कृत्रिमता नहीं थी, उसकी परिणति भी ऐसे दुरन्त विरहमें क्यों हुई? कृत्रिम प्रीतिके ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जिनमें प्रयोजन मिटते ही प्रीति अदृश्य हो जाती है। आज हमारी प्रीतिका भी जब यही अन्तिम परिणाम दीख रहा है, तब यह प्रीति भी

कृत्रिम प्रीतिमें ही दीखेगी। सामान्यजन प्रायः इसी निष्कर्षपर ही पहुँचेंगे। लोग एक निर्दोष वस्तुको भी सदोष मान लेंगे। हमारी चरम परिणति देखकर फिर जगत्‌का कोई भी व्यक्ति हमारे प्राणनाथसे प्रेम नहीं करेगा। हाय! संसारमें इसकी अपेक्षा दर्दनाक घटना और क्या हो सकती है? उद्धवजी! बोलिये तो सही, ऐसा क्यों हो गया?'

श्रीमान् उद्धव महान् पण्डित हैं, 'सर्वशास्त्रपारंगत' हैं; किंतु इस प्रश्नका उत्तर दे पानेमें वे अपनेको पूर्णतया असमर्थ अनुभव कर रहे थे। ऐसा भी कोई प्रश्न उत्थापित हो सकता है, यह उनकी धारणासे अतीत था। उनके प्रभु श्रीकृष्णके सम्बन्धमें इस प्रकारकी जिज्ञासा भी कोई कर सकता है, यह उनके भावना-राज्यके सीमान्तमें भी नहीं था। स्तब्ध होकर उद्धव केवल उन अभिनव प्रश्नकर्त्री गोपीजनोंके वेदनापूर्ण एवं अभिमानपूर्ण वाक्य सुनने लगे। अपने जीवनभरमें उन्हें ऐसा कहीं भी कभी भी नहीं सुनना पड़ा था। विस्मयसे अवाक् होकर वे सुनते ही रहे।

व्रजांगनाओंने कोई उत्तर न पाकर सोचा कि अरसज्ञसे रस-विषयक प्रश्न पूछ बैठना उनके पक्षमें नितान्त ही भूल हुई है। इसका फल भी केवल वेदना ही है। इन हतभागिनियोंको यह कौन बतायेगा कि व्रजसुन्दरने उनका त्याग क्यों किया है? इस प्रकार बोलते-बोलते उनके मन-प्राण, देहकी समस्त इन्द्रियाँ और वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-भावनामय हो गयीं। उनमें अब भला-बुरा समझनेकी सामर्थ्य ही नहीं रही—

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ९)

जिनका नाम ही है—कृष्ण, जिनका स्वभाव ही है—स्थावर-जंगम नर-नारी—सभीका आकर्षण करना, उन श्रीकृष्णके दूत उद्धवका दर्शन करके गोपियाँ निरतिशयरूपसे व्याकुल हो गयीं। उनमें लौकिक विचार, व्यवहार, भावनाप्रभृतिका अस्तित्व बिन्दुमात्र भी नहीं रहा। अपरिचित तथा सद्यःपरिचित विदेशी उद्धवके सम्मुख ही वे निःसंकोचभावसे श्रीकृष्णके साथ अपने रहस्यमय प्रेम-व्यवहारका वर्णन करती हुई आकुल-क्रन्दन करने लगीं—

'हा कृष्ण! हा व्रजनाथ! हा गोपीवल्लभ! हा आर्तिनाशक!' इस प्रकारके अत्यन्त मार्मिक और वेदनाभरे सम्बोधनोंसे पुकारती हुई व्रजगोपियाँ खड़ी हो गयीं। मथुराकी दिशामें मुख करके ऊर्ध्वबाहु होकर तीव्र व्यथाभरे शब्दोंमें कहने लगीं—हे व्रजप्राण! एक बार मात्र आकर अपने व्रजकी दुर्दशा तो अपने नेत्रोंसे देख जाओ। बाल्यकालसे अद्यावधि हम तुम्हारे सिवाय किसी अन्यको नहीं जानतीं। तुम्हारी निजजन होकर भी आज हम घने शोकके गहरे समुद्रमें डूबी जा रही हैं। एक बार मात्र आकर अपनी श्रीचरण-तरणीके सहारे व्रजकी रक्षा कर लो।' इस प्रकारका उच्चस्तरीय विलाप देखकर अतिथि उद्धव क्या सोचेंगे, वह लोकलज्जा उनमें अब नहीं बची थी। तभी श्रीशुकदेवजीने कहा है, वे '**त्यक्तलौकिकाः**' हैं। वे बेसुध और अत्यन्त विह्वल होकर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलाओंका स्मरण करती हुई गुण-गान करने लगीं। मधुमय कैशोरावस्थामें श्रीकृष्णने उनके साथ जो माधुर्यमय लीलाएँ की थीं, वे एक-एक करके सब उनके स्मृति-पटलपर उदित होने लगीं। उन लीलाओंका स्मरण करती हुई व्रजवधुएँ उन्मादिनीकी तरह गाने लगीं—

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १०)

उद्धव उन भावाविष्टा उन्मादिनी व्रजरामाओंकी तीव्र व्याकुलता-भरी आर्तवाणी सुनने लगे। ऐसी कथा, ऐसी व्यथा, ऐसी दारुण भाषा कभी किसी भी मनुष्यको कहीं भी श्रुतिगोचर नहीं हुई होगी। उद्धव अपने जीवनको अत्यन्त धन्य समझने लगे। हृदयके निभृत कोनेमें मन-ही-मन कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६३)

'जिनके कण्ठोंसे निःसृत हरिकथागीति तीनों भुवनोंको पवित्र करती है, उन व्रजांगनाओंकी चरणरेणु मस्तकपर धारण करके मैं अपने इस ज्ञान-शुष्क जीवनको सार्थक बनाता हूँ।'

श्रीराधाविरह-वेदनाका प्राकट्य

उच्चस्वरसे क्रन्दन करती हुई गोपियाँ कुछ कदम अग्रसर हुईं। उद्धवने उनका अनुगमन किया। निभृत निकुंजके अन्तरतम प्रदेशमें श्रीकृष्ण-विरहकी विग्रहवती श्री अष्टसखियोंसे परिवृत होकर भूतलपर पड़ी हुई हैं। अन्यान्य सभी सखियाँ आकर उन्हें घेरकर बैठ गयीं। उद्धवने देखा कि मध्यस्थलमें एक अनन्य-साधारण महादेवी-मूर्ति सोयी हुई है—

सखी-अंके हिम वपु रसना अवश।
पाणितल धरातले शेष दशा दश॥

(हरिकथा)

विरह-वेदनाकी घनायित विग्रहवती श्री अत्यन्त क्षीण-कण्ठसे सखियोंको सम्बोधित करती हुई कहने लगीं—'सखि! क्या कहूँ, गोकुलपतिका विच्छेद-संताप '**विश्लेषजन्मा ज्वरः**' कटाहमें उबलते तेलसे भी अधिकतर उत्तापयुक्त '**उत्तापी पुटपाकतोऽपि**' तीव्र ज्वालासे जला रहा है, कालकूट विषकी अपेक्षा भी अधिक चित्तक्षोभकारी है, '**गरलग्रामादपि क्षोभणः**' वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण और कठोर शैल-सदृश वक्षको विदीर्ण कर मर्मस्थानोंमें पीड़ा पहुँचा रहा है '**दम्भोलेरपि दुःसहः**'। यह जलन भीषण विषूचिका-रोगीको होनेवाली जलनसे भी कोटि-गुणा अधिक है। यह भयंकर विरह-संताप प्रतिक्षण मेरे मर्मस्थानोंको क्षत-विक्षत करता हुआ विदीर्ण किये दे रहा है '**मर्माण्यद्य भिनत्ति**'। सखि! यह ताप अब और सहन नहीं होता। इस देहको जीवित रखनेका अब कोई प्रयोजन भी नहीं दीखता। इस व्यर्थ जीवनको अभी त्याग दूँगी।' ललिता बोली—'राधे! देहत्याग करनेसे ही क्या श्रीकृष्ण मिल जायँगे?' श्रीमती

बोलीं—'मेरा विश्वास है कि देहत्याग करके श्रीकृष्णको निश्चय ही पाऊँगी। मैंने पौर्णमासीदेवीके मुखसे सुन रखा है कि मनुष्य जिस संकल्पको लेकर देह त्याग करता है, मृत्युके बाद उसे वही गति मिलती है। मेरा भरोसा इसीपर आधारित है। मैं इस दृढ़ संकल्पको हृदयमें धारण करके देहत्याग करूँगी कि मृत्युके बाद मेरी देहमें जितना-सा मिट्टीका अंश है वह मथुराके उस पथकी मिट्टीमें जा मिले, जिसपर होकर प्राणनाथ नित्य आते-जाते हैं। इससे मैं उनके चरणकमलोंको नित्य अपने हृदयपर धारण कर सकूँगी। मृत्युके पश्चात् मेरे शरीरमें जितना जलभाग है वह मथुराके उस विहार-सरोवरके जलमें जा मिले, जिसमें मेरे श्यामसुन्दर नित्य स्नानावगाहन करते हैं। इससे स्नानकालमें मैं अपने प्राणप्यारेके अधरोंका चुम्बन कर सकूँगी। मेरी देहका तेजांश उस दर्पणमें जा मिले, जिससे मथुरेश स्नानके बाद नित्य अपना वदन-बिम्ब निहारा करते हैं। मेरी देहमें जो थोड़ी-सी वायुका अंश विद्यमान है वह मेरी मृत्युके पश्चात् श्रीकृष्णके तालुस्थित वायुराशिमें मिल जाय और इस हतभागिनीकी देहका आकाश-अंश उस गृहके आकाशके साथ एकाकार हो जाय, जिस गृहमें मेरे प्राणजीवन रजनी व्यतीत करते हैं। मेरे मृत्युकालका यह संकल्प सार्थक होनेपर मैं मरकर ही अपनी समग्र सत्ताद्वारा उन्हें प्राप्त कर लूँगी। इसकी अपेक्षा सुखकर और क्या हो सकता है?'

क्षणभर शान्त रहकर श्रीमती राधा पुनः प्रलाप करने लगीं—'नहीं, नहीं, मेरा मरण कैसे हो सकता है? मरणमें सबसे बड़ी बाधा तो है उनके श्रीमुखकी पुनः आगमन-विषयक उक्ति।' हठात् श्रीराधाने आकाशकी ओर मुँह फेरते ही देखा कि एक कौआ मथुराकी दिशामें उड़ा चला जा रहा है। तब वे उसे लक्ष्य

करके कहने लगीं—'हे वायसराज! सुनो, मथुरा जा रहे हो न? तो एक मेरी बात भी सुनते जाओ—वृन्दावनसे बाहर निकलते ही फिर किसी भी अन्य दिशामें देखे बिना सीधे मधुपुरी चले जाओ। वहाँके राजाको प्रणाम करके मेरा यह संदेश कहना '**वन्दनोत्तरं संदेशं वद**'—किसी गृहमें आग लग जाय तो पहला कर्तव्य होता है कि कोई गृहपालित पशु भीतर हो तो द्वार खोलकर उसे मुक्त कर देना। मेरे इस देह-गृहमें प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो रही है। उन्हींने तो यह आग लगायी है। उनसे कहना कि मेरा प्राण-पशु बाहर नहीं जा पा रहा है—'**दग्धुं प्राणपशुं शिखी विरहभूरिन्धे मदंगालये**'। इसका कारण यह है कि द्वारमें अर्गला लगी हुई है। उन्हें कहना कि जरा अर्गला तो हटा दें। यदि पूछें कि कौन-सी अर्गला, तो कह देना कि 'मैं फिर आऊँगा'—यह आशावाणी ही वह अर्गला है '**आशार्गलाबन्धनम्**'। थोड़ी देर रुककर वे फिर सब सखियोंको उद्देश्य करके बोलने लगीं—

यमुना-तटिनी-कूले केलि-कदम्बेर मूले, मोरे लये चल लो त्वराय।
अन्तिमेर बन्धु हये, यमुना-मृत्तिका लये, सखी मोर लिपो सर्वगाय॥
श्यामनाम तदुपरि, लिखो सब सहचरी, तुलसी मंजरी दियो ताय।
आमारे वेष्टन करि, बोलो सबे हरि हरि, जखन पराण बहिराय॥

(हरिकथा)

'सखि! यमुना नदीके किनारे लीलाकदम्बके नीचे मुझे अति शीघ्र ले चलो। तुम्हीं मेरी अन्तसमयकी बन्धु हो, इसलिये यमुना-रज लेकर मेरी सारी देहपर 'श्याम' नाम लिख देना। उसे फिर तुलसी-मंजरीसे सजा देना। जब मेरे प्राण बहिर्गत होने लगें, तब सब सखियाँ मुझे घेरकर 'हरि-हरि' कीर्तन करते रहना।'

श्रीमान् उद्धव विस्फारित नेत्रोंसे विरहकातरताकी इस

करुणमूर्तिको देखने लगे और उत्कर्ण होकर दिव्य उन्मादिनीकी प्रलाप-उक्ति सुनने लगे। देखते-देखते और सुनते-सुनते मानो उनके देह-प्राण, मन-बुद्धि, चैतन्य सब मिलकर एक विपुल वेदनानुभूतिमें एकाकार होने लगे। उद्धव पहचान गये—जिनके विषयमें बहुत सुन चुका हूँ, घोर निद्रामें भी जिनका नाम लेकर मेरे प्रभु चमक उठते हैं और दीर्घ निःश्वास त्याग करने लगते हैं—ये वे ही श्रीराधा हैं।

श्रीशुकदेवजीने श्रीराधाका कहीं स्पष्ट नाम नहीं लिया है, कहा है—'**काचित्**'। '**क=प्रेमसुख, आ=समन्तात्, चित्=ज्ञानं यस्याः**' अर्थात् श्रीकृष्णको प्रेम करके जिस अखण्ड अनन्त सुखकी अनुभूति होती है, उस सुखको जिन्होंने परिपूर्णरूपसे अनुभव कर लिया है, वे ही यहाँ 'काचित्' हैं। इस प्रेमसुखका अनुभव तो अनेक लोग कर सकते हैं, किंतु प्रेमकी परिपूर्णता नहीं होनेके कारण अनुभवकी भी पूर्णता प्राप्त नहीं होती। परिपूर्ण प्रेम-सुखका अनुभव एकमात्र श्रीराधाको ही होता है, कारण, वे मादनाख्यभावमयी हैं। अतएव इस जगत्में एकमात्र श्रीराधाको ही 'काचित्' नामसे आख्यात किया जा सकता है। श्रीशुकमुनिने अत्यन्त कुशलतापूर्वक श्रीराधाका नाम गुप्त ही रखा है—

'बुझिबे रसिकजन ना बुझिबे मूढ़।'

'इस रहस्यको केवल रसिक भक्त ही समझ सकेंगे, मूढ़ प्राणी नहीं समझेंगे।'

चित्रजल्पकी मूल कथा

कृष्ण-विरह-व्याकुल श्रीराधा उद्धवके प्रति दस श्लोक बोली हैं। 'बोली हैं' न कहकर 'प्रलाप बका है' कहना ही उचित होगा। गौड़ीय वैष्णव-आचार्योंने कहा है—उद्धवके सम्मुख विचित्रतामय 'जल्प' किया है। इन दस श्लोकोंको उन्होंने 'चित्रजल्प' नाम दिया है।

'चित्रजल्प' शब्द आचार्यपादोंका एक परिभाषा-मूलक शब्द है। परिभाषाका तात्पर्य अनुभव करना हो तो आचार्यपादोंद्वारा आस्वादित रसतत्त्वके सम्बन्धमें किंचित् आलोचना कर लेना आवश्यक है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्योंके अनुभवके अनुसार प्रेम ही जगत्का परतत्त्व है। प्रेमसे ही जगत्की उत्पत्ति, प्रेममें ही जगत्की स्थिति और प्रेममें ही जगत्की परिणति है। श्रुतिमन्त्रमें कहा है—जगत् आनन्दसे ही उद्भूत हुआ है और आनन्दके अभिमुख ही बढ़ा जा रहा है। इसीलिये वेदमें आनन्दको ही ब्रह्म कहा है—'**आनन्दं ब्रह्म**'। गौड़ीय आचार्योंके मतसे आनन्दकी पराकाष्ठा ही 'प्रेमपदवाच्य' है—'आनन्द-चिन्मयरस प्रेमेर आख्यान।' प्रेमकी अभिव्यक्ति प्रेमिक-प्रेमिकाके भाव-बन्धनमें व्यक्त होती है।

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(उज्ज्वल नीलमणि)

जो भाव-बन्धन अनित्य है, वह प्रेम नहीं है। जो भाव-बन्धन अजर, अमर, अविनाशी है, वही प्रेम है। ध्वंस होनेके सर्वविध कारणोंके विद्यमान रहते हुए भी जो भाव-बन्धन ध्वंस नहीं

होता, वही प्रेम है। अतः भक्त और भगवान्‌का भाव-बन्धन ही प्रेमपदवाच्य हो सकता है, लौकिक कोई सम्बन्ध इस पदका वाच्य नहीं हो सकता।

इक्षुरस गाढ होनेपर गुड़ बनता है। गुड़ गाढ होनेपर चीनी बनती है। चीनी गाढ होकर मिश्री बनती है। मिश्री और गाढ होकर सिता-मिश्री (सिहेदार-मिश्री) बनती है। उसी प्रकार प्रेमवस्तु क्रमशः गाढता प्राप्त होते-होते—स्नेह-मान-प्रणय, राग-अनुराग, भाव-महाभाव, रूढ़-महाभाव, अधिरूढ़-महाभाव और मादनाख्य-महाभावमें परिणत होती है। इन स्तरोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रेम जब गाढतर होता है, तब चित्तरूपी दीपकको उद्‌दीप्त करता है '**चिद्दीपदीपनम्**' एवं हृदयको द्रवीभूत करता है '**हृदयं द्रावयन्**', तब उसका नाम होता है 'स्नेह'। अन्तरमें स्नेहका जन्म हो जानेपर श्रीकृष्णके रूप-दर्शनसे कभी नयन तृप्त नहीं होते।

'कोटि आँखि नाहि दिलो दिलो सबे दुइ।
ताहाते निमेष दिलो कि देखिव मुइ॥'

विधाताने करोड़ों आँखें नहीं दीं, केवल दो ही दी हैं। इनमें भी फिर निमेष (आँखकी पलक) दे दी तो मैं बेचारा क्या देखूँगा?'

स्नेहका उदय होनेपर कर्ण श्रीकृष्ण-कथा-श्रवणसे कभी अघाते नहीं और अधिक सुननेकी इच्छा बनी रहती है। कृष्णनामका जप करते-करते भी रसना पूर्णतया तृप्त नहीं होती, पुनः-पुनः उच्चारण करनेकी लालसा बनी रहती है।

'ना जानि कतेक मधु, श्याम नामे आछे गो,
बदन छाड़िते नाहि पारे।'

'श्याम-नाममें न जाने कितना मधु भरा पड़ा है कि जीभ उसका क्षणभर भी त्याग नहीं कर पाती।'

यहाँ प्रेम स्नेहमें परिणत हो गया है। हमारी दृष्टिसे स्नेह दो प्रकारका है—घृतस्नेह और मधुस्नेह। घृतस्नेह श्रीकृष्णके आदरसे कृतार्थ होकर मानो विगलित हो जाता है। मधुस्नेह श्रीकृष्णद्वारा आदर-प्राप्तिसे गाढताको प्राप्त होकर दृढ़तर हो जाता है। उससे श्रीकृष्णके सुखका आधिक्य अनुभूत होता है। घृतस्नेह भावान्तरके साथ मिश्रित होनेपर सुस्वादु होता है, मधुस्नेह स्वयं ही माधुर्यसे भरपूर है। 'मैं उनका हूँ', ऐसी भावनासे उत्पन्न स्नेहको घृतस्नेह कहते हैं। 'वे मेरे हैं,' इस भावनासहित जो स्नेह है वही मधुस्नेह है।

मधुस्नेह जब उत्कृष्टताको प्राप्त होता है, तब नवतर माधुर्यका उदय होता है। तब न जाने कैसे एक अद्‌भुत उपायसे अतिप्रिय प्रेमास्पदके प्रति वह अदाक्षिण्य-भाव धारण कर लेता है। इसीको 'मान' कहा जाता है। मानमें श्रीकृष्णद्वारा प्रदर्शित अत्यन्त आदरकी भी उपेक्षा दृष्ट होती है। अन्तमें तीव्र विरह-दशा उपस्थित होती है।

'काँदिया कहये पुनः धिक् मोर बुद्धि।
अभिमाने हाराइलाम कानु गुणनिधि॥'

'भक्त अब क्रन्दन करते हुए अपनी बुद्धिको ही धिक्कार देते हुए कहता है कि अभिमानवश मैंने अपने गुणनिधान कन्हैयाको खो दिया।'

मान प्रगाढताको प्राप्त होकर जब विश्रम्भका रूप धारण करता है, तब उसे प्रणय कहा जाता है। विश्रम्भ शब्दका अर्थ है अभिन्न मनन। उस समय अपने देह-मन-प्राण-बुद्धिके साथ श्रीकृष्णके देह-मन-प्राण-बुद्धिकी अभिन्नता प्रतीत होती है। तब

प्रेमका नाम हो जाता है प्रणय। प्रगाढ प्रणयके फलस्वरूप श्रीकृष्णके साथ देह-मन-प्राणकी ऐक्य-भावना-हेतु श्रीराधाके बाह्य परिच्छद आदि भी ऐसे नीलवर्ण हो जाते हैं मानो अन्तरका ऐक्य ही बाहर व्यक्त होता है।

नीलिम मृगमदे, तनु अनुलेपन, नीलिम हार उजोर।
नील वलय सने, भुजयुग बन्धन, पहिरण नीलनिचोल॥

'नीलवर्ण-मृगमदसे देहका अनुलेप किया गया है। गलेमें नीलम हार सुशोभित है, दोनों भुजाओंमें नील वलय (कंकण, कड़े) बँधे हुए हैं और नीला वस्त्र ही परिधान हैं।'

इसी प्रणयके गाढतर होनेपर उसका नाम हो जाता है 'राग'। अन्तरमें राग उदित होनेपर प्रियतमके लिये अतिशय दुःख भी सुख ही लगता है।

'तोमार लागिया, कलङ्केर हार, गलाय परिते सुख।'

तुम्हारे लिये तो गलेमें कलंकरूपी हार पहननेमें भी सुखका ही अनुभव होता है।'

रागकी गाढतर अवस्थाका नाम ही 'अनुराग' है। तब अपने नित्यनवायमान प्रियके साथ नव-नव भावसे आस्वादन करनेकी साध (लालसा) मनमें जागती है। केवल साध ही नहीं जागती—साथ-साथ ऐसा करनेकी सामर्थ्य भी उत्पन्न हो जाती है। ***'सेइ प्रीति-अनुराग बाखानिते, तिले तिले नूतन होय।'*** अर्थात् उस अनुराग-हेतु प्रियतमका कण-कण नित्य नूतन दीखने लगता है। श्रीकृष्णका सौन्दर्य श्रीकृष्णमें ही निहित है; ऐसा नहीं है, वह अनुरागी भक्तके नयनोंपर भी निर्भरशील है। अनुराग-वृद्धिके साथ-साथ सौन्दर्य भी बढ़ता ही जाता है—

'आमार माधुर्य नित्य नव नव हय।
स्व-स्व प्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय॥'

'मेरा माधुर्य नित्य नूतन होता जाता है और भक्त उसका अपने-अपने प्रेमके अनुरूप आस्वादन करते हैं।'

अनुराग-दशामें एक और अभिनव व्यापार भी घटित होता है। प्रियके साथ एक कल्पका मिलनकाल भी एक क्षण-सा लगता है। *'गत यामिनी जित दामिनी'*। ब्रह्म-रात्रिपर्यन्त रासलीला हुई, किंतु गोपियोंको तो ऐसा लगा मानो रात्रि विद्युत्-झलककी तरह आयी और चली गयी। इसके विपरीत प्रियका एक क्षणार्धका विरह-काल भी सैकड़ों युगों-सा प्रतीत होता है—'**युगायितं निमेषेण**'। अनुराग-दशामें इसके अतिरिक्त भी एक और अद्भुत व्यापार घटित होता है—जिस कार्य या वस्तुसे श्रीकृष्णको सुख मिलता है—उसमें भी गोपीको अनिष्टकी आशंका होती रहती है। रास-रजनीमें विरहिणी गोपियाँ विलाप करती हुई कह रही हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(भा० १०। ३१। १९)

'हे श्रीकृष्ण! हमारे कर्कश (कठोर) स्तनोंके ऊपर तुम्हारे कोमल चरणकमल रखनेसे कहीं तुम्हें व्यथा न हो जाय, इस भयसे हम तुम्हारे पाद-पद्मोंको अपने वक्षपर अत्यन्त संतर्पणसे धारण करती हैं और उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम शिल-तृणांकुर-आच्छन्न इस वनभूमिमें विचरण कर रहे हो। यह बात सोचनेमात्रसे ही हमारा मस्तक चक्कर खा रहा है। तो क्या हमारे कठिन वक्षके स्पर्शसे श्रीकृष्णका चरणतल भी कठिन हो गया है या फिर उनके कोमल पाद-स्पर्शसे वन-

पथके प्रस्तरखण्ड ही कोमल हो गये हैं।'—ऐसी-ऐसी सब भावनाएँ अनुरागके लक्षण हैं।

अनुराग जब 'स्वसंवेद्यदशा' को प्राप्त होकर 'यावदाश्रयवृत्ति' हो जाता है, तब उसे 'भाव' कहते हैं। अनुराग एक ऐसी अनिर्वचनीय पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाता है, जब वह केवल अपने अनुभवका विषय ही रह जाता है—इसीलिये कहा है '**स्वसंवेद्यदशा**'। और जितनी मात्रामें अनुराग उत्पन्न होना सम्भव है, उतना सारा-का-सारा जब एक ही साथ, एक ही समय उत्पन्न हो जाता है, तब वह 'यावदाश्रय-वृत्ति' कहलाता है।

'भाव' का उदय होते ही अन्तरकी दशा बाहर प्रकाशित हो जाती है। अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, स्वरभंग, स्तम्भ और प्रलय—ये आठ सात्त्विकभाव जब बाहर प्रकाशित होते हैं, तब समझना चाहिये कि अन्तरमें 'भाव' उदित हुआ है।

भाव और अधिक प्रगाढ होनेपर महाभावमें परिणत होता है। यह महाभाव श्रीकृष्णकी पटरानियोंको भी अति दुर्लभ है, केवल व्रज-देवियोंमें ही दृष्टिगोचर होता है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः ।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ॥

(उज्ज्वल नीलमणि)

यह महाभाव भी दो प्रकारका होता है, रूढ और अधिरूढ। जब सात्त्विकभाव साधारणरूपसे प्रकाशित होता है, तब उसे रूढ महाभाव कहते हैं। जब सभी भाव एक ही समय असाधारण प्रकारसे सुस्पष्ट-रूपसे प्रकाशित होते हैं, तब वह अधिरूढ महाभाव कहलाता है। इस अधिरूढ महाभावकी घनीभूत मूर्ति ही श्रीमती राधा हैं। श्रीराधाकी देह हमारे-सदृश रक्त-मांससे गठित

नहीं है। उनकी देह तो 'प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम-विभावित' है। जिस प्रकार स्वर्णालंकारका स्वरूप सोना ही है, उसी प्रकार श्रीराधाका सब कुछ महाभाव ही है। अधिरूढ महाभावके दो भेद हैं—मोदन और मादन। श्रीराधामें मोदनाख्य महाभावका उदय होनेपर स्वयं श्रीकृष्ण अभिभूत हो जाते हैं। श्रीकृष्ण मोदनाख्य महाभावके समीप ऋण स्वीकार कर लेते हैं। श्रीकृष्ण हैं जगन्मोहन और उनकी मोहिनी हैं श्रीराधा। मादनाख्य महाभाववती हैं, अतः श्रीराधा जगदाकर्षणकारी श्रीकृष्णको भी आकर्षित करती हैं। प्रगाढ़ मिलन-जात आनन्द आस्वादन-हेतु मोदन मादनमें परिणत होता है। मादन है सर्वभावोद्‌गमोल्लासी। एक ही मोदन-कालमें सर्वविध भावोंका उदय होता है। श्रीजीवगोस्वामिपाद कहते हैं कि दिव्य मद्यकी तरह मत्तताजनक होनेके कारण ही इसे मादन कहते हैं।

मोदनाख्य महाभाव विरहदशामें मोहन नामसे अभिहित होता है—

मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत्।
यस्मिन् विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः॥

(उज्ज्वल नीलमणि)

विरहकी तीव्रता-हेतु अष्ट-सात्त्विकभाव विशेषरूपसे सूद्दीप्त हो उठते हैं। इस अवस्थामें श्रीराधा स्वयं असह्य दुःख सहन करके भी श्रीकृष्णकी सुख-कामना करती हैं।

'से सब दुःख किछु ना गणि।
तोमार कुशले कुशल मानि॥'

'मैं इन सारे दुःखोंकी कुछ भी परवाह नहीं करती। बस, तुम्हारी कुशलमें ही अपनी कुशल मानती हूँ।' मोदनाख्य महाभाव तीव्र विरहदशामें भ्रम-सदृश किसी अनिर्वचनीय विचित्रताको

प्राप्त हो जानेपर (**भ्रमाभा कापि वैचित्री**) दिव्योन्माद कहा जाता है। दिव्योन्माद-अवस्थाके भी उद्घूर्णा एवं चित्रजल्प प्रभृति नानाविध भेद हैं।

उद्घूर्णा-दशाके प्रबलविरह-कालमें श्रीराधा 'श्रीकृष्ण पधारेंगे' इस आशासे कुंजमें कभी बासर-शय्याकी तरह शय्याकी रचना करती हैं। फिर कभी कुपिता होकर खण्डिता-भावका अवलम्बन कर नीले आकाशके प्रति तर्जन-गर्जन करती हैं। कभी अभिसारिका बनकर निविड-घन-अन्धकारको ही श्रीकृष्ण मानकर उसका प्रगाढ आलिंगन करके लिपट जाती हैं। ये सभी उद्घूर्णा-भावके लक्षण हैं।

फिर कभी विरहकालमें श्रीकृष्णके सुहृद्‌के साथ साक्षात् होनेपर अन्तरके गूढ रोषवश जो बहुभावमय जल्प उच्चारित होता है, वही चित्रजल्प है। चित्रजल्पके दस भेद हैं। उद्धवको देखकर श्रीराधाने जो प्रलाप किया है, उसमें चित्रजल्पके दशविध भेद प्रपंचित हुए हैं। रसिकजन इन श्लोकोंको 'भ्रमरगीत' के नामसे अभिहित करते हैं।

प्रजल्प—भ्रमर, कपटीका मित्र
परिजल्प—निष्ठुरतापूर्ण शठता

श्रीकृष्ण-विरहके कारण श्रीराधा दिव्योन्माद-अवस्थाको प्राप्त हो गयी हैं। उनके सर्वांगोंमें कम्पादि विकारसमूह प्रकट हो गये हैं। बात कहते समय उनकी वाणी लड़खड़ा रही है। उनके नयनोंसे ऐसी अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है, मानो सारा व्रज जल-प्लावित होकर जलाकार हो जायगा। पुलक नामक सात्त्विक विकारके उद्‌गमसे उनके अंग कण्टकित होकर कटहलके फल-सदृश हो गये हैं। क्षण-क्षणमें मूर्च्छा-दशा उनकी देहको अवसन्न कर रही है। कभी क्षणभरके लिये मूर्च्छा-भंग होकर चेतना लौटनेपर वे कह रही हैं—'सखि! काननमें कोकिलकी कुहू-ध्वनिसे कर्ण-पटल मानो वज्राघातसे फटे जा रहे हैं, उसे मना करो। चन्द्रकी ज्योत्स्नासे देह मानो दावाग्नि-दहनकी ज्वालासे झुलस रही है, चन्द्र-प्रकाश जिस गवाक्षसे आ रहा है उसे बंद कर दो।'

अति शीतल मलयानिल मन्द मन्द बहना।
हरि-विमुख आमारि अंग मदनानले दहना॥

'अत्यन्त सुशीतल मलयानिल बह रहा है, किंतु हरि-विरह-हेतु मेरे अंग तो मदनरूपी अग्निसे जले जा रहे हैं। सखि! मूर्च्छारूपी प्राणसखीको शीघ्र बुला दो, मेरे लिये तो वही एकमात्र श्रेष्ठ आश्रय है।'

विरहके कारण श्रीराधाके प्राणको कण्ठागत देखकर लीलाशक्ति योगमायाने तीव्र वेदनाके महासमुद्रमें 'मान' की एक नवीन तरंग उत्पन्न कर विरहिणीकी प्राण-रक्षाकी

व्यवस्था की। दुर्विषह विरहाग्निके मध्य 'मान' का आविर्भाव एक विचित्र-सी बात लगती है, किंतु मोहनाख्य-महाभावसमुद्रमें कुछ भी असम्भव नहीं है। अनन्त भावोंके अभिनव विकास-हेतु महाभावसिन्धुमें नित्य-नूतन तरंगें उत्पन्न होती ही रहती हैं।

श्रीराधाने भाव-नेत्रोंसे देखा—श्रीकृष्ण किसी मथुरावासिनी प्रेयसीके साथ सानन्द विहार कर रहे हैं। फिर उसे परित्यागकर श्रीराधाके समीप आ गये हैं। यह लीला देखकर ही विरहिणी श्रीराधा मानिनी हो गयी हैं। श्रीकृष्ण बहुत अनुनय-विनय करके भी मान-भंजन न कर सके, अतः चले गये। तदुपरान्त उन्होंने एक काले भ्रमरको दूत बनाकर श्रीराधाके मान-प्रसादन-हेतु भेजा। भ्रमर आकर श्रीराधाके चरणोंके पार्श्वमें गुंजन कर रहा है।

यह सारा व्यापार श्रीराधाकी स्फूर्तिमात्र है। विरहकी तीव्रताके कारण यह स्फूर्ति ही साक्षात्कार लग रही है। श्रीराधा समझ रही हैं—

आयाति च मम निकटं
याति च निह्नुत्य माथुरं नगरम्।

—'प्राणवल्लभ दूसरोंसे अलक्षित रहकर मेरे समीप आते हैं और फिर यहाँसे गुप्तरूपसे मथुरा चले जाते हैं।' '**सुतरां काचन रामा रमयति रमणः स तत्रापि**।' अतएव मथुरापुरीमें भी उनकी अनेक प्रेयसियाँ हैं, अन्यथा छिपकर आकर फिर लौट क्यों जाते हैं? इस प्रकार चिन्तन करते-करते मानो वे उस मथुरावासिनीको प्रत्यक्ष देख रही हैं, उसके साथ श्यामका मिलन देख रही हैं—'**ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्**'। बस, यह देखते ही 'मान' का आविर्भाव हो जाता है। महाविरहरूपी

दु:ख-समुद्रमेंसे मानो मानरूपी एक क्षुद्र द्वीप निकलकर प्रकट हो गया है।

श्रीराधा देखने लगीं—श्रीकृष्णद्वारा प्रेषित काला भ्रमर उनके चरणोंके आसपास चक्कर लगा रहा है। उसके श्मश्रु पीतवर्ण हो रहे हैं। मधुकरके मुखका अग्रभाग पद्मके पीत-परागसे पीताभ हो गया है। यह देखकर श्रीमतीका मान अधिक दृढ़ और दुर्जय हो उठा। मान-भंगकी अवस्थामें निर्वेद नामक संचारी भावकी एक तरंग आयी। उससे श्रीकृष्णके प्रति दोष-दृष्टिवश पर्याप्त बुद्धि उत्पन्न हो गयी। 'अगणित दोषोंके आकर (खान) श्रीकृष्णकी प्रीतिसे अब और कोई प्रयोजन नहीं—इस भावके उदय होते ही वे भ्रमरसे कहने लगीं।' ठीक इसी समय श्रीमान् उद्धव भी आकर श्रीराधाके सम्मुख दण्डायमान हुए। भावविह्वला श्रीराधाको उद्धवजी दिखायी ही न पड़े; किंतु वे जो कुछ बोल रही हैं, उद्धवजी वह सब कुछ सुन रहे हैं।

श्रीराधा बोलीं—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १२)

'अरे! कपटीके बन्धु! तू मेरे सम्मुख खड़ा होनेकी धृष्टता कर रहा है? यहाँसे अभी चला जा। किंतु तुम्हारे लिये धृष्टता करना कोई अनुपयुक्त बात भी नहीं लगती। कारण, तूने मद्यपान किया है न? हाँ, तुम्हारे प्रभु भी तो मधुपति हैं, तभी इतना मधुपान कर रखा है। रामने प्रभु और

भृत्यकी अच्छी जोड़ी मिलायी! मधुपतिका दूत हुआ मधुप! अरी सखियो! देखो, तुमलोग इस दूतको जितना सरल और सीधा समझ रही हो, उतना सरल यह नहीं है। मदिराके नशेमें विक्षिप्तचित्त हो गया है, इसीसे सरल-सा लग रहा है; किंतु इसके मस्तकके कम्पन और अस्फुट वाणीसे स्पष्ट समझमें आ रहा है कि यह अत्यन्त धूर्त है।'

'अरे कितवबन्धो! कपटीके मित्र! वे तो कपटियोंके चूडामणि हैं ही, किंतु तू तो उनकी अपेक्षा भी अधिक कपटकी प्रतिमूर्ति है। तेरेमें भीषण कपटता नहीं होती तो तू ऐसे कपटीको भी छलकर उनके साथ मित्रताका नाता कैसे जोड़ पाता? जो सारे जगत्‌को ठगते फिरते हैं, उन्हें भी जो ठगना जानता है वही तो कपटीका बन्धु होने योग्य है। बाहर सरलताका स्वाँग रच पाना ही ठग पानेका अद्‌भुत कौशल है।'

उद्धवजी श्रीराधाकी बातें सुन रहे हैं। उनकी इच्छा हुई कि मैं श्रीमतीके पाद-पद्मोंमें अपनी प्रणति निवेदन करूँ। यह सोचकर वे किंचित् अग्रसर हुए। श्रीराधाको उद्धवजी नहीं दीखे। भावनेत्रोंसे भ्रमरको देखकर वे बोल उठीं—'अरे धूर्तके मित्र! तू मेरे चरणोंका स्पर्श मत कर। यदि प्रणाम करनेकी एकान्त इच्छा ही उत्पन्न हो गयी है तो दूरसे ही प्रणाम कर ले। मेरे चरण छू मत (**मा स्पृशाङ्घ्रिम्**)। तेरे-जैसे मद्यपद्वारा छू जानेसे तो मेरे चरण ही अपवित्र हो जायँगे; इन चरणोंकी महिमा तो तुझे मालूम नहीं है। तेरे अपवित्र सखा न जाने कितनी बार इन चरणोंका स्पर्श करके परम पवित्र बने हैं।'

श्रीराधाद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मानो भ्रमर वहाँसे

हटकर अन्य दिशामें चला गया है। ऐसा देखकर श्रीराधा बोलीं—'अच्छा, तू मेरी सखियोंके पैर पकड़ना चाहता है? उनके पैर छूनेका तुझे अधिकार नहीं है। मेरा चरण-स्पर्श करनेका साहस न होनेपर तेरे बन्धुने न जाने कितनी बार मेरी इन सखियोंके पैर पकड़कर अपनेको धन्य अनुभव किया है। चल, हट जा उधरसे!'

उद्धवजी मन-ही-मन कह रहे हैं—'मैं प्रभुका भेजा हुआ आ रहा हूँ। अतः आपके चरण-स्पर्श करनेका मुझे अधिकार प्राप्त है।' श्रीराधा भावकर्णोंसे सुन रही हैं—मानो भ्रमर यह बात कह रहा है। ऐसा सुनकर वे उत्तर देती हुई बोलीं—'तू चरण-स्पर्श कर सकता था, यदि मदिरा पीकर न आता तो। क्या कहता है? मदिरा नहीं पी है? तो सुन—अवश्य पी रखी है, उसका प्रमाण दे रही हूँ। तू जिस वेषमें मेरे पास आया है, उस वेषमें उन्मत्त व्यक्तिके अतिरिक्त कोई नहीं आया करता। जिसका मस्तक मदिरासे घूर्णित हो रहा हो, वही इस वेषमें आता है। क्या कहता है—वेषमें क्या दोष है? तो बताती हूँ, सुन, तेरा श्मश्रु रंगीन क्यों हो रहा है? कुंकुमका लेप कर लिया है। कहाँ मिल गया इतना कुंकुम? यह तो मेरी मथुरावासिनी सपत्नियोंके वक्षःस्थलका कुंकुम है। गाढ़ परिरम्भणके समय कुंकुम श्यामसुन्दरके वक्षःस्थलस्थित वनमालामें लिप्त हो गया था। तू उस मालापर बैठा था, तभी तेरे मुख और ओष्ठपर इस समय भी वही लगा हुआ है। इसी मुँहको लेकर मेरा मान-भंजन करने आया है? धिक्कार है तेरी धृष्टताको!

'अवश्य ही थोड़ी अधिक मदिरा पी ली है, अन्यथा कोई इतना भ्रष्टबुद्धि नहीं होता। प्रियके संगलाभसे धन्या

सपत्नीके वक्षःस्थलके कुंकुमद्वारा, जिसे देखकर ही सारी देहमें क्रोधकी ज्वाला भड़क उठती है, अपने अंग रंजित करके आया है मेरा मान-भंजन करनेके लिये? देख भ्रमर! तुझे मेरे मानभंजनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तू मथुरा चला जा, वहाँ जाकर मथुरावासिनी नागरीगणोंका मान-भंजन किया कर। वहाँ अनेक मानिनियाँ हैं। एकका मान-भंजन करते ही दूसरी मानवती मिल जायगी। इसी प्रकार मान-प्रसादरूप कार्यमें तेरा जीवन कट जायगा। जब वहीं तुझे इतना कार्य मिल रहा है तो फिर यहाँ क्यों चला आया है?'

'ताहार कुंकुम लैया, निज श्मश्रु राङ्गाइया,
तुमि केन ब्रजपुरे एला॥
जार दूत तुमि हेन जन,
मानिनी मथुरा नारी, तार प्रसाद कर हरि,
यदुसभाय पावे विडम्बन।

(उज्ज्वल-चन्द्रिकाका अनुवाद)

चित्रजल्पके दस भेद हैं। उनमें यह प्रथम है। इसका नाम है 'प्रजल्प'। इसके लक्षण हैं—

असूयेर्ष्यामदयुजा योऽवधीरणमुद्रया।
प्रियस्याकौशलोद्गारः प्रजल्पः सम्प्रकीर्तितः॥

'असूया, ईर्ष्या और गर्व—इन तीन संचारी भावोंके साथ अनादर-प्रदर्शनपूर्वक श्रीकृष्णकी अ-चतुरताके उद्गारको 'प्रजल्प' कहते हैं।' श्लोकमें 'कितव' शब्दसे असूया प्रकट होती है। 'सपत्नी' शब्दकी ओटमें ईर्ष्या व्यक्त हो गयी है। **'मा स्पृशाङ्घ्रिम्'**—मेरे चरण-स्पर्श मत कर, इस बातसे गर्व सुपरिस्फुट है। मानिनीका मान प्रसादन करना नहीं जानता, किसे दूत बनाना चाहिये, यह भी नहीं जानता, दूत भी यह

नहीं जानता कि मान-भंजन-हेतु किस ढंगसे आया जाता है, इन सब मन्तव्योंमें श्रीकृष्णके अ-कौशल-प्रदर्शनके उद्‌गार हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण इस कार्यमें अनभिज्ञ और अ-चतुर हैं, यही बात घुमा-फिराकर बार-बार कही गयी है। अतएव दिव्योन्माददशामें श्रीराधाके चित्रजल्पके मध्य ये उक्तियाँ 'प्रजल्प' के लक्षणोंसे युक्त हैं।

श्रीराधाकी बातें सुननेसे लगता है, मानो ये बातें बहुत ही सोच-विचारकर कही गयी हैं, किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। प्रत्येक उच्चारित शब्द ही महाभावमयीके भावका ही उद्‌गारमात्र है।

विजल्प—न गावो उनकी गुण-गाथा
उज्जल्प—गर्वगर्भित कुहकता

श्रीराधा भाव-नेत्रोंसे दृष्ट भ्रमरको लक्ष्य करके भावमय प्रलाप कर रही हैं और उद्धवजी उसे श्रवण कर रहे हैं; किंतु श्रीराधाका भाव एवं भाषा अथाह अनुरागकी कितनी निभृत गहराईसे समुद्भूत है, यह अनुभव करनेकी सामर्थ्य उद्धवजीमें नहीं है। उद्धवजी मन-ही-मन सोच रहे हैं कि 'श्रीराधा श्रीकृष्णकी जो इतनी कठोर भाषामें निन्दा कर रही हैं, क्या सच्चिदानन्दद्वारा भी ऐसा निन्दित कार्य-सम्पादन सम्भव है?'

श्रीराधाका भावदृष्ट भ्रमर गुनगुना रहा है। राधा भावकर्णोंसे ऐसा सुन रही हैं मानो भ्रमर गुंजन करके कह रहा है—'आप प्रभुकी इतनी निन्दा क्यों कर रही हैं? उन्होंने तो कोई दोषपूर्ण कार्य नहीं किया है। श्रीराधा बोल रही हैं—'अच्छा, रे भ्रमर! सुन ले उनके दोषकी बात। उनका दोष तो अत्यन्त गुरुतर है; किंतु वह केवल हमलोगोंके ही अनुभवगोचर है। दूसरे इसे नहीं जान पाते। श्रीकृष्णने हमारे सारे धर्म-कर्मका ही नाश कर दिया है—केवल एकमात्र निज अधर-सुधाका पान कराकर—'**सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा।**' इस भूमण्डलपर उस अधर-सुधाकी कहीं तुलना नहीं है। उसी अलभ्य वस्तुको पान कराकर हमारा धर्मनाश करके वे चले गये हैं। यदि कहो कि हम पतिव्रता होकर भी उनकी अधर-सुधाका पान करने गयीं ही क्यों, तो वह भी मैं बता देती हूँ, सुन—

'यह सुधा अत्यन्त 'मोहिनी'—मोहकारिणी है, हमारी बुद्धिको नष्ट करनेवाली है। उनके मधुर अधरका दर्शन करनेमात्रसे चित्तमें दुरन्त लालसा उत्पन्न हो जाती है। उनके श्रीमुखपर नेत्र स्थिर करते ही सारी विचार-शक्ति लुप्त हो जाती है। जिन्हें उस चाँद-अधरका दर्शन करनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, वे नहीं समझ सकेंगे कि इसके दर्शनसे अन्तरमें कितनी तीव्र लालसाका उदय होता है। तीव्र कामनाके आवेगमें हम उस सुधाके लोभमें उन्मत्त हो गयी थीं। उन्होंने भी जिस प्रकार उस अधर-मधुरिमाका हमलोगोंको पान कराया था, उसका दृष्टान्त भी त्रिभुवनमें खोजे नहीं मिलेगा; किंतु तदुपरान्त उन्होंने निर्दयीकी भाँति जिस प्रकार हमारा त्याग किया है, उसका दृष्टान्त भी रे मधुप! तू ही है—'**तत्यजेऽस्मान् भवादृक्**'।

जिस प्रकार पुष्पसे मधु-संचय कर तुमलोग उसे त्यागकर चले जाते हो, उसी प्रकार वे भी चले गये हैं। उनकी निर्दयता तुझ-सदृश है, ऐसा कहना भी कम बताना हुआ; क्योंकि तू है भ्रमर-जाति, मधुपान करके त्याग करता है; किंतु उन्होंने तो पान कराकर त्याग किया है। तू सुमनका त्याग करता है इसलिये कि उसमें अब और अधिक मधु अवशिष्ट नहीं है; किंतु वे तो उनका त्याग करते हैं जिनका मन सुन्दर एवं सरल है '**सुमनस इव**।' इसमें हेतु केवल हमें दुःख-सागरमें डुबानेका ही है। दूसरेको दुःख देकर ही जिसे सुख मिलता हो, ऐसा दुःशील उन-सरीखा अन्य कौन होगा?

'उनके हृदयमें तो एकमात्र यही अभिसंधि रहती है कि जिन्होंने उनकी अधर-सुधाका पान किया हो, वे गम्भीर

दुःखमें निष्पिष्ट हों। तेरे कपटी प्रभुने सोचा है कि तीव्र दुःखके आघात-हेतु यदि व्रजगोपियाँ मर गयीं तो फिर मैं किसे दुःख देकर सुखी होऊँगा? इसीलिये उन्होंने श्रीअधरोंका अमृत पिलाकर हमारी देहको मृत्युहीन बना लिया है। अब वे हमें केवल दुःख ही देते रहेंगे; किंतु मरने नहीं देंगे। भ्रमर! तुमलोग जिस प्रकार दूरसे पुष्पकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर पुष्पके समीप भागे चले आते हो और गुनगुन शब्दसे गुणगान करके अन्तमें चुम्बन करके उसका मधु पान कर लेते हो; वे कपट-चूड़ामणि भी तद्रूप ही हैं। दूरसे ही हमारे अंगोंकी गन्ध पाकर वे निकट चले आते हैं। आकर कितने गुणगान करते हैं, फिर अन्तमें हमारे अलक्षितमें मधुवर्षी चुम्बन करके निज अधर-सुधाका पान करा देते हैं।' श्रीराधा एक क्षणके लिये नीरव हो गयीं। भ्रमर गुंजन करता हुआ चक्कर काटने लगा। श्रीराधा सुन रही हैं, मानो भ्रमर गुंजनद्वारा कह रहा हो कि 'रासके दिन तुमने ही तो **'जयति तेऽधिकम्'** श्लोकमें रोते-रोते कहा है कि वैकुण्ठकी अधीश्वरी इन्दिरा निरन्तर उनकी सेवा करती हैं। जो व्यक्ति इतने दोषोंसे दोषी है और इतनी निन्दाका पात्र है, क्या श्रीलक्ष्मीदेवी कभी उनकी सेवा कर सकती हैं?' यह बात सुनकर श्रीराधा बोलीं—'क्यों रे भ्रमर! तू क्या पूछ रहा है? वैकुण्ठेश्वरी जिनके चरण-कमलोंकी सेवा करती हैं, उनकी निन्दा मैं एक ग्वालेकी छोकरी होकर क्यों कर रही हूँ? यह भी बता देती हूँ, ले सुन—'श्रीलक्ष्मी तो उनके आपातरमणीय वाक्चातुर्यसे मुग्ध हो गयी हैं—**'हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः।'** क्या कहते हो? लक्ष्मी तो ईश्वरी हैं, किसीकी वाक्चातुरीसे भूलनेवाली नहीं हैं। भ्रमर! मेरी तो मान्यता है कि लक्ष्मी

ईश्वरी हैं, इसलिये तीक्ष्णबुद्धिमती भी हैं, ऐसा कुछ नहीं है। हम ग्वालिनें हुईं तो क्या हुआ, हम लक्ष्मीकी अपेक्षा अधिक विचक्षणा हैं। हमने मधुपतिके स्वभावको पहचान लिया है, लक्ष्मी अभीतक ऐसा नहीं कर पायीं। हम तेरे ही भलेके लिये तुझे भी सचेत किये देती हैं कि उस कपटीके साथ मित्रता मत करना। फिर भी तू ऐसा करेगा तो परिणाममें परित्यक्त होकर हमारी ही तरह तुझे भी रोना ही पड़ेगा।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १३)

—इस श्लोकमें चित्रजल्पके द्वितीय भेद 'परिजल्प' की विशेषताएँ प्रकाशित हुई हैं। परिजल्पके लक्षण हैं—

प्रभोर्निर्दयताशाठ्यचापल्याद्युपपादनात्।
स्वविचक्षणताव्यक्तिर्भङ्ग्या स्यात् परिजल्पितम्॥

'जहाँ प्रभुकी निर्दयता, शठता, चपलता आदिका प्रतिपादन करके भंगीपूर्वक स्वयंकी विचक्षणता प्रदर्शित की जाती है, वही 'परिजल्प' नामसे ख्यात होता है।' उपर्युक्त श्लोकमें **'सद्यस्तत्यजे'** में सद्यः त्यागकार्यद्वारा श्रीकृष्णकी निर्दयता दर्शायी गयी है। **'मोहिनीं पाययित्वा'** में मोहनकारिणी अधर-सुधाका पान कराकर हमें अमर कर लिया है, जिससे चिरकालतक दुःख दे सकें—इस अभिप्रायद्वारा श्रीकृष्णकी शठता अभिप्रेत है। **'भवादृक्'** पदमें भ्रमरके साथ सादृश्य दिखाकर श्रीकृष्णकी चंचलता एवं **'पद्मा ह्यपि बत हृतचेताः'** पदमें लक्ष्मीकी सरलता एवं अल्पबुद्धिका उल्लेख कर स्वयंकी विचक्षणता प्रकाशित की गयी है।

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १४)

उद्धवजी स्तब्ध होकर श्रीमती राधाका संलाप सुन रहे हैं। भ्रमर गुंजन करता हुआ गा रहा है। श्रीराधाको लग रहा है कि यह मधुकर श्रीकृष्णका गुणगान कर रहा है। इससे वे क्रोधाविष्ट होकर बोलने लगीं—'अरे मधुकर! तू इतने नाना प्रकारसे यहाँ मधुपतिका गुणगान क्यों कर रहा है? '**किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूनामधिपतिम्?**' क्या कहते हो, गाना मेरा स्वभाव है? तो देख, तेरे गानेमें हम बाधा नहीं देतीं, किंतु इस धृष्ट व्यक्तिकी गुणगाथा गानेके सिवा क्या तू अन्य कुछ भी गाना नहीं जानता? यदि कहता है कि 'वे हमारे प्रभु हैं, हमें तो उन्हींका गुणगान करना होगा,' तो देख, फिर यह स्थान छोड़कर भाग जा। उनका गुणगान करनेके लिये तुझे इस स्थानके अतिरिक्त क्या सारी पृथिवीपर कोई अन्य स्थान नहीं मिला?

'जो गृहहीन हैं, उनके सम्मुख ऐश्वर्य-परिपूर्ण अट्टालिका-प्रभुओंकी बातें सुनानेकी क्या आवश्यकता है? केवल यही नहीं, जो हमें गृहहीन बनानेमें एकमात्र कारणभूत हैं और जो आज स्वयं मथुराके ऐश्वर्यमय महलोंमें निवास कर रहे हैं, उनकी बात हमारे कर्णोंमें डालनेकी आवश्यकता ही क्या है? जिन्होंने हमें श्रीहीन बनाया, उनकी श्रीका वर्णन हमारे ही सामने करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? मैं गृहहीन, वनवासिनी, कंगालिनी क्यों बन गयी हूँ, जानता है तू? तेरे

इन्हीं बन्धुके कारण। अब वे तो यदुवंशियोंके ईश्वर बन बैठे हैं और हम गृहहीन होकर वन-वनमें जरा-सा सिर ढँकने-योग्य स्थान खोजती भटक रही हैं। जिनके कारण ही हम इतना कष्ट पा रही हैं, उन्हींका गुणकीर्तन तू हमारे सम्मुख कर रहा है? इसकी अपेक्षा अधिक निर्बुद्धिताका प्रमाण और क्या हो सकता है?

'उनका गुणगान करने-हेतु कोई योग्य स्थान तुझे नहीं मिल रहा हो तो हमारा उपदेश सुन ले, हम तुझे सही स्थान बता देती हैं। यहाँसे तू मधुपुरी चला जा। तेरे बन्धुने वहाँ जिनका दुःख-दैन्य दूर किया है, उनके सामने ही उनका (श्रीकृष्णका) गुणगान सुन्दर और शोभनीय लगेगा। तेरे सखाद्वारा प्रतिपालित होकर यादवगण अभी सुखमय जीवन-यापन कर रहे हैं। अतः यदुपतिके गुणगानसे तो यादवोंको ही आनन्द मिलेगा।

'एक बात और सुन ले। तेरे सखाने मधुपुरीकी जिन ललनाओंकी वक्ष-वेदना (**कुचरुजः**) दूर कर दी है, उनके समीप तू जी-भरकर गुणगान कर। तेरे मुखसे श्रीकृष्णका गुणगान सुनकर मथुराकी नागरियाँ निश्चय ही आनन्दमग्न हो जायँगी। कारण, जो प्रेमाकृष्ट हैं उनके लिये प्रियका संग और प्रसंग दोनों ही सुखकर हुआ करते हैं।

'यदि उन कपटीका ही गुणगान करना है तो मैंने अभी जिनका नाम बताया है, उनके पास जाकर कर और यदि मेरे सम्मुख ही गान करनेका तेरा एकान्त आग्रह हो, तो फिर कोई 'अन्य गान' कर। 'अन्य गान' क्या होता है, नहीं जानते? इतना-सा भी अनुभव नहीं है? विरहके महादुःखसे संतप्त, गृहहीन, सुध-बुधहीन व्रजवासियोंकी सभामें किस

प्रकारका गान चल सकता है; तू यह भी नहीं समझ पा रहा है। किसी भी सभामें यदि कोई श्रोताके हृदयकी अवस्थाका ध्यान रखे बिना गान करता है, तो लोग उसे अयोग्य समझकर सभासे निकाल देते हैं। 'इसीलिये तो मैंने तुझे यहाँसे चले जानेको कहा है।'

उपर्युक्त श्लोकमें 'विजल्प' नामक तृतीय भेदके लक्षण स्पष्ट हैं।

व्यक्तयासूयया गूढमानमुद्रान्तरालया।
अघद्विषि कटाक्षोक्तिर्विजल्पो विदुषां मतः॥

'श्रीकृष्णके प्रति गूढमान, बाहर असूयायुक्त और कटाक्षपूर्ण वचन बोलना—ये ही विजल्पके लक्षण हैं।' इस श्लोककी प्रत्येक बात ही श्रीकृष्णके प्रति कटाक्षपूर्ण है। 'मथुरामें जिनकी वक्ष-वेदनाका नाश किया है' आदि वाक्योंमें गूढमान सुव्यक्त है। 'क्यों गान कर रहे हो?' वाक्यमें असूया स्पष्ट झलक रही है।

श्रीराधाकी बातें सुनकर उद्धवजी कुछ विचार करने लगे। भ्रमरके गुंजनमें श्रीराधा मानो उद्धवजीकी अन्तर्भावना ही सुन पा रही हैं। तब सखीको सम्बोधित करती हुई श्रीराधा बोलीं—'देख तो सखि! भ्रमर क्या कह रहा है? अरी! वह तो कह रहा है कि 'आप मुझे इतने कठोर वचन और मत सुनाइये। मथुरापुरीकी स्त्रियाँ पतिव्रता हैं। वे किसी भी प्रकारसे पर-पुरुष श्रीकृष्णकी सेवा नहीं करेंगी। वे कभी भी अपने पातिव्रत्य-धर्मका त्याग नहीं करेंगी। इस विषयमें आप व्यर्थ ही चिन्तित हो रही हैं।'

'सुन रे भ्रमर! मथुराकी नारियाँ पतिव्रता हैं, यह मैं भी जानती हूँ; किंतु जरा बता तो सही—देवलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक आदि किसी भी लोकमें ऐसी कोई नारी है क्या, जो तेरे प्रभुकी वश्यता स्वीकार किये बिना रह सकती है?

(**दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः**) यह बात मैं कोई ईर्ष्या या विद्वेषवश नहीं कह रही हूँ। मैं तो केवल उनकी कल्याण-कामना करके ऐसा कह रही हूँ। मुझे तो केवल यही चिन्ता सता रही है कि हमलोग उनका विश्वास करके जैसे दुःख-सागरमें डूबी हैं, वैसे दूसरा कोई न डूबे। श्रीकृष्णके व्यवहारसे उनका प्रवंचित हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। कारण, उनका कपटयुक्त रुचिर हास्य और भ्रू-युगलोंकी सुन्दर चितवन-प्रभृति प्रायः सभीको अतीव मनोहर और आकर्षक लगते हैं, इसीके परिणामस्वरूप लोग धोखा खा जाते हैं। हम जान गयी हैं, साथ ही हमने तो भलीभाँति अनुभव कर लिया है कि उनकी ये सभी क्रियाएँ कपटपूर्ण हैं। हृदय भी कपटसे भरा है, बाहरका हास्य-लास्य भी कुटिलतासे भरा है। जो कोई इनसे भ्रमित होगा, वह हमारी-जैसी ही दुर्दशाको प्राप्त होगा।

'अरे भ्रमर! तू क्या कह रहा है? श्रीकृष्ण यदि इतने दोषपूर्ण और कपटी हैं तो हमलोग आज भी उनके लिये इतनी लालायित क्यों हैं? उसका भी कारण बता रही हूँ, सुन। स्वयं लक्ष्मी सर्वेश्वरी होकर भी जहाँ भी उनकी (श्रीकृष्णकी) चरणरज गिरती है, वहीं जाकर उनकी उपासना करती हैं (**चरणरज उपास्ते**)। जब लक्ष्मीकी ही यह अवस्था है तो फिर हम किस खेतकी मूली हैं? (**वयं काः**) हम ठहरीं क्षुद्र नारियाँ, ग्वालिनें, अतः उनके प्रति आसक्तिका त्याग किस प्रकार कर सकती हैं? तेरे कपटी सखाने सर्वप्रथम वशीभूत किया है लक्ष्मीदेवीको, इसका भी कारण है। नारियोंमें लक्ष्मीदेवी ही प्रधान हैं। उन्हें वशीभूत करके रख सकनेपर पृथिवीकी सभी नारियोंको ठगा जा सकेगा—यही गूढ़ उद्देश्य है।

'जो नितान्त ही दुःखदाता हैं, उनके प्रति अभीतक हम इतनी

आसक्त क्यों हैं? इसका और क्या उत्तर दें। उन मनश्चोरकी मायाके अतिरिक्त और कोई कारण है भी, ऐसा नहीं लगता। हम उनका 'उत्तम श्लोक' नाम सुनकर भुलावेमें आ गयीं। हम समझती थीं कि वे दीन-जनोंपर दया करते होंगे, इसीलिये 'उत्तमश्लोक' नाम पड़ा है। अब समझमें आया कि उनकी प्रत्येक बात, कार्य और नाम—सभी कपटतासे परिपूर्ण हैं।

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १५)

श्रीराधाके इस प्रलाप-वाक्यमें चित्रजल्पका 'उज्जल्प' नामक चतुर्थ भेद प्रकट हुआ है। उसके लक्षण इस प्रकार हैं—

हरेः कुहकताख्यानं गर्वगर्भितयेर्ष्यया।
सासूयश्च तदाक्षेपो धीरैरुज्जल्प ईर्यते॥

गर्वमिश्रित ईर्ष्यासहित श्रीहरिकी कुहकताका वर्णन एवं असूयासहित श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपको पण्डितगण उज्जल्प कहते हैं।

'लक्ष्मी पादपद्मोंकी सेवा करती हैं,' आदि वाक्योंमें गर्वपूर्ण ईर्ष्या भरी है। 'दीनपर कृपा करते हैं, इसीलिये उत्तमश्लोक हैं' उक्तिमें असूयापूर्ण आक्षेप स्पष्ट है। सारे श्लोकमें हरिकी कुहकताका वर्णन सुव्यक्त है। सुतरां चित्रजल्पका उज्जल्प-भेद यहाँ प्रकाशित हुआ है।

संजल्प—प्रशंसाके माध्यमसे विद्रूप
अवजल्प—काठिन्यपूर्ण धूर्तता

श्रीराधाके श्रीचरणोंको पद्म समझकर भ्रमर उसपर बैठ गया है और गुंजन करते हुए श्रीकृष्णकृत अपराधोंके लिये क्षमा माँग रहा है—इस आवेशमें विरहिणी श्रीराधा दिव्योन्मादकी अवस्थामें भ्रमरको लक्ष्य करके कहने लगीं—

'हाँ रे भ्रमर! तू क्या कह रहा है? जिस उद्देश्यसे यहाँ आया है, उसे व्यक्त करनेका मैंने तुझे जरा-सा भी अवसर नहीं दिया? सुन, न तो कुछ बोलना शेष है और न कुछ सुनना ही है। बस, तू मेरे चरणोंके पाससे दूर हट जा, चला जा कहीं दूर, अति दूर। तेरे अन्तरमें क्या है, यह मुझसे कुछ भी छिपा नहीं है! तू भी अपने प्रभुसे चाटुकारिताकी विद्या सीखकर यहाँ दौत्य-कार्य-हेतु आया है। तेरे प्रभुकी चापलूसी करनेकी असाधारण क्षमतासे तो मैं विशेषरूपसे परिचित हूँ। किसी गुरुतर अपराधके हो जानेपर वे गलद्वस्त्र होकर '**देहि पल्लवमुदारम्**'—जैसे निरुपम चाटु-वाक्योंद्वारा मेरा मन भुला देते थे; किंतु अब उस कलाके सफल होनेकी कोई सम्भावना नहीं। ठगी जाकर, देख-सुनकर एवं उसका फल भोगकर मुझे अब खूब शिक्षा मिल गयी है। अब तू मुझे भुला नहीं सकेगा, मैं कोई लक्ष्मीदेवी-सदृश अचतुरा नहीं हूँ।

'हाँ रे भ्रमर! गुंजार करके फिर क्या कह रहा है? प्रियतमके साथ विवाद न बढ़ाकर संधि कर लूँ? यह बात तो अब मुँहपर ही मत लाना। कपट तभीतक चल सकता है, जबतक वह

पकड़में नहीं आता। मैंने इस कपटीका कपट रँगे हाथों पकड़ लिया है। क्या पूछ रहा है? क्या कपट था? क्या यह भी तुझे बताना होगा? यदि हाँ, तो ले सुन—

'हमने सर्वस्व उनके लिये त्याग दिया। माता-पिता, पति-भ्राता, इहलोक-परलोक, सुख-ऐश्वर्य—सभी तो उनकी प्रीति-हेतु त्याग चुकी और वे इतने अकृतज्ञ निकले कि हमारी प्रीतिकी ओर जरा-सा दृष्टिपात भी नहीं किया। एक बार भी नहीं सोचे कि जो व्रजबालाएँ मेरे सिवा अन्य कुछ भी नहीं जानतीं, वे निराश्रय होनेपर कहाँ खड़ी होंगी? अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये सब कुछ भुलाकर चरणोंमें प्रपन्न होकर पड़ी हमें निर्मोहीकी भाँति त्यागकर चले गये। ऐसे कठोर शठराजके साथ दुबारा किसी प्रकारकी संधिवार्ता कभी नहीं की जा सकती।

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १६)

—इस श्लोकमें चित्रजल्पका 'संजल्प' नामक पंचम भेद प्रकट हुआ है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में श्रीरूपगोस्वामीने 'संजल्प'-के ये लक्षण बताये हैं—

सोल्लुण्ठया गहनया कयाप्याक्षेपमुद्रया।
तस्याकृतज्ञताद्युक्तिः संजल्पः कथितो बुधैः॥

जिसमें आक्षेप-वचनोंद्वारा श्रीकृष्णकी अकृतज्ञताकी बात कही गयी हो और जिसमें निगूढरूपसे सोल्लुण्ठ वचन कहे गये हों, उसे 'संजल्प' कहते हैं। 'सोल्लुण्ठ' वचनका अर्थ है—व्यंग्यके सहित प्रशंसोक्ति। इस श्लोकमें **'विसृज शिरसि पादम्'**

अर्थात् 'चरणोंसे अपने मस्तकको हटा ले' इस वाक्यमें आक्षेपभंगी और अकृतज्ञताकी बात स्पष्ट है। अकृतज्ञादिके 'आदि' द्वारा कठोरता, उपकारीको पीड़ा देनेकी प्रचेष्टा और हृदयशून्यता समाविष्ट किये गये हैं। ये सभी बातें इस श्लोकमें पूर्णरूपसे भरी पड़ी हैं।

श्रीराधा क्षणभरके लिये नीरव हो गयीं। भाव-सिन्धुमें नानाविध संचारीभावोंकी तरंगें उठने लगीं। 'निर्वेद' नामक संचारीभाव अत्यन्त प्रगाढ़ताको प्राप्त हो गया। प्राणसर्वस्व प्रियके प्रति रोषदृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। 'श्रीकृष्णके साथ मुझे अब कोई सम्पर्क रखनेकी आवश्यकता नहीं'—यह भाव अत्यन्त प्रबल होकर मनमें उदित हो गया। प्रणयके विवर्तमें डूबती-उतराती श्रीराधा एकदम अरसिक अभक्तजन-सदृश वैरस्यमय बातें कहने लगीं—

'अरे भ्रमर! कान खोलकर सुन ले। श्यामके साथ सख्यकी बात फिर मत उठा। उनकी कुटिलता, निर्ममता और अधार्मिकताकी कहीं परिसीमा ही नहीं है। क्या पूछ रहा है—उनकी निर्दयताका मुझे कौन-सा प्रमाण मिला? तो बताती हूँ, सुन—वानरोंका राजा था बाली। उसे छिपकर अत्यन्त नृशंसभावसे बाणविद्ध करके मार डाला था तेरे प्रभुने। हीनचरित्र व्याधतक वानरको नहीं मारा करते, कारण, वानरका मांस अभक्ष्य है। फिर उन्होंने धार्मिक कुलके मुकुटमणि होकर भी यह व्याध-विगर्हित अशोभन कार्य किया था—'**मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा**'।

और देख, शूर्पणखाकी नासिका और कर्ण-छेदन-व्यापारको याद कर। यह भी कोई कहनेकी बात है? शूर्पणखाका दोष तो इतना ही था न कि उनके रूपपर मुग्ध होकर उसने उन्हें अपना स्वामी बनानेकी इच्छा व्यक्त की। इस दोषहेतु उससे स्वयं तो

विवाह किया ही नहीं; प्रत्युत उसका अंगछेदन कर उसे इस प्रकार विरूपा बना दिया कि और कोई पुरुष भी उसे ग्रहण न कर सके—'**स्त्रियमकृत विरूपाम्**'। हाँ, यह बात भी कुछ समझमें तब आती, जब हम देखते कि श्रीमान्‌जी तपस्वी-ब्रह्मचारी हैं, सत्यपालन-व्रतके व्रती होकर वन-वनमें भटक रहे हैं, अतः इनके सामने विवाह-प्रस्ताव रखना अशोभनीय कार्य है। किंतु ऐसा तो नहीं था। वे तो अपनी प्रियाके साथ प्रेमपूर्वक वन-शोभाका आनन्द ले रहे थे। यदि किसी अन्य स्त्रीको ग्रहण करनेकी इच्छा उन्हें नहीं थी तो अपने इतने रूप-सौन्दर्यकी छटाका विस्तार करनेकी क्या आवश्यकता थी? पहले तो रूप दिखाकर मुग्ध करना और फिर ऐसा अमानुषोचित अपमान! ऐसी निर्ममताका वर्णन करनेके लिये तो भाषा ही नहीं मिलती।

'और, एक निर्ममता एवं अधार्मिकताकी बात और सुनाती हूँ, सुन। कौन नहीं जानता महाराज बलिको छलनेकी बात? मान लो, दशरथके पुत्र तो क्षत्रिय थे, उनका जातिधर्म ही मार-काट करना था; किंतु कश्यपका पुत्र वामन तो ब्राह्मणकुमार, ब्रह्मचारी था। देखनेसे भी लगता था कि मानो वह शान्ति-क्षान्ति-गुण-सम्पन्न सद्विप्र हो। बलि राजाने क्या अपराध किया? यही न, कि उन्होंने ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमारको अत्यन्त आदर एवं भक्तिपूर्वक त्रिपाद-भूमिदानकी प्रतिश्रुति दी! बलिके पूजा-ग्रहणकालमें तो नन्हें-नन्हें पैर दिखा दिये और फिर न जाने कहाँसे किस प्रकार प्रकाण्ड-प्रकाण्ड एवं विराट् पैर प्रकट कर दिये। इस इन्द्रजालका रहस्य कोई भी नहीं समझ सका। किसी बड़ी वस्तुके भीतर तो छोटी वस्तु समा सकती है, किंतु किसी छोटी वस्तुमें कोई बड़ी वस्तु किस प्रकार छिपी रह सकती है, यह बात जीवबुद्धिगम्य तो है ही नहीं! दो विराट् पदविक्षेपसे सारा जगत्-ब्रह्माण्ड नाप

लिया। फिर 'तीसरा पैर कहाँ रखूँ?' कहकर छलपूर्वक बेचारे बलिको बाँधकर रसातलमें भेज दिया। धर्मात्मा बलि महाराजके प्रति इस अत्याचार एवं दौरात्म्यकी बात सोचनेसे ही प्राण काँप उठते हैं। जिस प्रकार काक किसी मनुष्यके मस्तकपर रखे खाद्य-द्रव्यको लूटकर खाता है और अवसर देखकर उसके मस्तकपर चोंच मारकर उसे क्षत-विक्षत भी कर देता है, उसी प्रकार वामनने भी काककी तरह ही (**ध्वाङ्क्षवत्**) 'प्रतिश्रुति पूर्ण नहीं हुई' कहकर उसका सर्वस्व छीन लिया और अपने सेवकोंद्वारा वरुणपाशसे बाँधकर रसातलमें भेज दिया— '**बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत्।**' श्यामवर्णके व्यक्तियोंके साथ (**तदलमसितसख्यैः**) मित्रता करनेकी बात अब बंद कर दे। श्यामवर्णमें ही एक मोहिनी शक्ति होती है। दशरथके पुत्र भी श्यामवर्ण थे, कश्यप मुनिके पुत्र वामन भी श्यामवर्णके थे और तेरे सखा मथुरापति भी श्यामवर्ण ही हैं। लगता है, यह इस वर्णका ही दोष है। मोहिनी-शक्ति और नृशंसता—दोनों इस वर्णके चिरसंगी हैं।'

श्रीराधाके प्रणय-विवर्तकी वाक्योक्ति उद्धवजी सुन रहे हैं। उद्धवजीने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि श्रीकृष्णके प्रति भी इस प्रकारकी उक्ति कोई कह सकता है। श्रीमतीके महाभावके अतल-सिन्धुमें अवगाहन करनेकी सामर्थ्य उद्धवजीमें नहीं है। उन्होंने तो केवल उस सिन्धुके तीरपर बैठकर उसकी महिमाके एक क्षुद्रतम अंशका ही अनुभव किया है। इतनेसे ही वे अस्थिर होकर मन-ही-मन विचार करने लगे। श्रीराधा श्रीकृष्णकी इतनी निन्दा करती हुई भी बार-बार बात श्रीकृष्णकी ही कर रही हैं। एक क्षणके लिये भी तो उनके मुखसे श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं निकलती। श्रीराधाका भावनादृष्ट भ्रमर

गुंजन कर रहा है। श्रीमती अपने भाव-कर्णोंद्वारा भ्रमरकी बात सुन रही हैं। सुनकर कह रही हैं—'अरे ओ मधुप! अस्पष्ट गुंजन करके धीरे-धीरे क्या कह रहा है? अच्छा, कह रहा है कि 'यदि श्रीकृष्ण इतने अपराधी हैं तो मेरे यहाँ आगमन-अवधिमें मैं आपके मुखसे घुमा-फिराकर केवल उन्हींकी बात क्यों सुन रहा हूँ?' दोषी व्यक्तिके दोषोंका वर्णन भी गुणी व्यक्तिके लिये कोई शोभनीय कार्य नहीं है?

'इसका भी उत्तर सुन ले। रे अलि! यह बात तो यथार्थ ही है कि श्याम-वर्णके व्यक्तिके साथ बन्धुत्वसे अब मुझे रंचमात्र भी प्रयोजन नहीं है, किंतु उसकी लीला-कथारूप जो परम सम्पद् है, उसका त्याग करनेमें मैं अपनेको सम्पूर्णरूपसे असमर्थ पाती हूँ—'**दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।**' भ्रमर! उनका तो त्याग किया जा सकता है; किंतु उनकी कथाका त्याग नहीं कर पा रही हूँ। उन्होंने भी हमारा त्याग कर दिया है और हमने भी उनका त्याग कर दिया; किंतु उनकी लीला-कथा 'दुस्त्यज' है। उन्हें खोकर भी केवल उनकी कथाके सहारे ही तो हम जीवन धारण कर रही हैं। कथाका त्याग करनेसे तो प्राण ही नहीं रहेंगे। कथा नहीं छोड़ पा रही हैं, इसमें भी हमारा कोई दोष नहीं, दोष उनकी कथाका ही है। उनकी कथा हमारी रसनाको छोड़ना नहीं चाहती। कारण, छोड़ते ही तो हम मर जायँगी। हम मर गयीं तो फिर इतना कष्ट कौन भोगेगा। हमारा वध करनेकी भी तो उनकी इच्छा नहीं है। जैसे वे हैं, वैसी ही है उनकी कथा। निर्दयताकी होड़में दोनों समकक्ष हैं।

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

—इस श्लोकमें चित्रजल्पका 'अवजल्प' भेद प्रकट हुआ है। पण्डितगण अवजल्पके लक्षणोंका निम्नलिखित वर्णन करते हैं—

हरौ काठिन्यकामित्वधौर्त्यादासक्त्योग्यता।
यत्र सेर्ष्यं भियेवोक्ता सोऽवजल्पः सतां मतः॥

जिस उक्तिके भीतर ईर्ष्या और भय व्याप्त हो और ऊपरी भाषामें श्रीहरिके काठिन्य, कामित्व, धूर्तता एवं आसक्तिजनित अयोग्यता प्रकाशित हो, वही 'अवजल्प' है। शूर्पणखाके नासा-कर्णछेदन एवं बालि-वधद्वारा श्रीहरिका काठिन्य प्रदर्शित होता है। '**स्त्रीजितः**'— स्त्रीद्वारा पराजित, तपस्वी होकर भी सीता-संगी हैं, इस उक्तिद्वारा कामित्व दर्शाया गया है। बलिके प्रति अत्याचारसे धूर्तता प्रकट होती है। '**अलमसितसख्यैः**'— श्यामलके साथ और मित्रताकी आवश्यकता नहीं—इस पदसे श्याममें आसक्तिकी अयोग्यता प्रकट हुई है। श्लोककी व्यंजनामें ईर्ष्या और भय व्याप्त है। श्यामके संग पुनः बन्धुत्व होनेपर ताप और बढ़ेगा, यह भय लगा हुआ है। '**स्त्रीजितः**' पदसे सीताके प्रति ईर्ष्या स्पष्ट प्रकट होती है।

उपर्युक्त समस्त उक्तियाँ श्रीराधाके मुखसे उनकी दिव्योन्माद-अवस्थामें भावतरंगोंके आघातस्वरूप प्रकट हुई हैं। ऐसी बात नहीं कि श्रीराधाको यह अज्ञात हो कि श्रीकृष्ण कितने स्नेहमय और कोमल-हृदय हैं। शूर्पणखाके प्रति व्यवहार बाह्यदृष्टिसे निर्दयताका व्यवहार प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः वह भी परम करुणाका ही निदर्शन है, यह बात भक्तसमाजमें अविदित नहीं है। सरलभावसे हो या कपटभावसे शूर्पणखाने श्रीरामको पतिरूपसे

प्राप्त करनेकी आकांक्षा की है। जब भगवान्‌को पतिरूपसे चाहा तब अवश्य ही वैसा होगा। उसके हृदयमें जब वासनाका उदय हो चुका, तब भगवान्‌को उसे पत्नीरूपसे ग्रहण करना ही होगा; किंतु एकपत्नीव्रतधारी श्रीराम अन्य नारीको पत्नीरूपसे ग्रहण नहीं कर सकते। अतएव जबतक वे पुनः बहुवल्लभ होकर अवतरित नहीं होते, तबतक शूर्पणखाको प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

इस सुदीर्घ प्रतीक्षाकी कालावधिमें यदि कोई अन्य व्यक्ति उसका पाणिग्रहण कर ले या उसके प्रति आकृष्ट हो जाय तो श्रीहरिके 'भक्तवाञ्छाकल्पतरु' नामको दोषका स्पर्श होगा। इसीलिये करुणानिलय प्रभु ऐसा नहीं होने देंगे। जब द्वापरमें नन्दालयमें बहुवल्लभ होकर प्रकट होंगे, तब जो भी उनकी चरण-सेवा माँगेगा, वे उसे ही ग्रहण कर लेंगे। जितने दिन वे नहीं आते, तबतक शूर्पणखाको इस प्रकार बना ही देना होगा कि कोई भी पुरुष उसकी आकांक्षा न करे और वह भी किसी पुरुषको न चाहे। विरूप करनेसे यह उद्देश्य सिद्ध हो गया।

द्वापरमें वही शूर्पणखा कुब्जा होकर आयी। जन्मसे ही उसके इस प्रकारका कूबड़ था, जिससे कोई भी पुरुष उसे ग्रहण करनेको इच्छुक नहीं था। जबतक भगवान् स्वयं आकर न अपनायें तबतक उसे कुरूप बनाकर ही रखा। अतएव शूर्पणखाके विरूपीकरण-कार्यमें निर्दयता नहीं, करुणा ही भरी पड़ी है। इसी प्रकार बालि-वधमें भी निर्दयता नहीं है। बालि-वधके पश्चात् बालीकी पत्नीने विलाप करते हुए, श्रीरामकी भर्त्सना करते हुए जितने प्रश्न उठाये, श्रीरामने उन सबका युक्तिसंगत उत्तर दिया। अपने अनुजकी सहधर्मिणीको बलात् अंकशायिनी बनाकर बाली महापाप कर रहा था। इस चरित्रहीनताहेतु वह दण्डार्ह था।

सुग्रीव श्रीरामके मित्र थे। मित्रका शत्रु भी शत्रु ही होता है। अतः पापकर्मा शत्रुका वध करना श्रीरामका कर्तव्य था। बालीको यह वर प्राप्त था कि सम्मुख समरमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अतएव अन्तरालमें रहकर तीर चलानेमें कोई दोष-स्पर्श नहीं होता।

बलि-छलनामें भी धूर्तता नहीं, करुणा ही भरी है। दो पदक्षेपोंसे ही त्रिभुवनका अतिक्रमण कर वामनदेवने बलिसे तृतीय पदके लिये स्थान पूछा। बलि बोले—'प्रभो! अब तो मेरे पास और स्थान नहीं है तथा आपके पास भी और पैर नहीं हैं।' प्रभु बोले—'राजन्! यदि तुम स्थान दे सको तो मैं पैर भी दे दूँगा।' बलिने विचार किया कि 'मैंने सर्वस्व अवश्य दे दिया है; किंतु अभीतक स्वयंको तो नहीं दे पाया।' ऐसा विचारकर बलिने अपना मस्तक झुका दिया और प्रभु वामनदेवने उसपर अपना चरण रखकर उसे स्वीकार किया। बलिको बंदी बनाकर तो प्रभु स्वयं चिरकालके लिये उसके द्वारपर प्रहरी बनकर बंदी हो गये। सभी कार्योंमें करुणामयकी करुणाधारा ही प्रवाहित है। महाभाव-सिन्धुके सुगम्भीर वक्रभावके तरंगाघातसे उत्पन्न संचारीभावोंकी प्रबलता-हेतु श्रीराधा श्रीकृष्णके गुणोंमें भी दोषका आविष्कार कर रही हैं। यही तो चित्रजल्प है।

श्रीकृष्ण पूर्वलीलामें श्रीराम और वामन थे। ऐसा कहनेसे यह सिद्ध होता है कि श्रीराधाको यह ज्ञात था कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। कहा तो यह जाता है कि श्रीराधाके ऐश्वर्यगन्धहीन शुद्ध माधुर्य-अवगाही प्रेममें 'ईश्वरबुद्धि' का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं टिक सकता। इस जिज्ञासाका समाधान तीन प्रकारसे सम्भव है—

१-श्रीराधा, उनके गण तथा अन्यान्य व्रजजन जानते थे कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। श्रीकृष्णके संग-मिलनकालमें आनन्दके

उल्लास-हेतु इस ईश्वरत्वबोधका उदय नहीं हो पाता; किंतु विरहकालमें कभी कदाचित् वह व्यक्त हो जाता है। दुग्धसे भरे कड़ाहमें एक टुकड़ा तृण पड़ा हो तो वह दिखायी नहीं पड़ता; किंतु यदि कड़ाहको अग्निपर चढ़ाकर दुग्ध उबाला जाय तो बीच-बीचमें वह तृणखण्ड दृष्टिगोचर होने लगेगा और ज्यों ही उसे पकड़नेकी चेष्टा की जायगी, वह अदृश्य भी होता रहेगा। व्रजप्रेमके दुग्धकड़ाहमें 'ऐश्वर्यबुद्धि' भी उस तृणखण्डकी भाँति छिपी रहती है। विरह-तापसे जब प्रीति-दुग्ध उद्वेलित होता है, तब ऐश्वर्य-बुद्धि क्षणभरके लिये दृष्टिपथपर प्रकट होती है और फिर छिप जाती है। विरहकालमें भगवत्ता-बोधक उक्ति रास-पंचाध्यायीके गोपीगीतमें भी दृष्ट होती है—**'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।'**

२-श्रीराधा और अन्यान्य व्रजजन श्रीकृष्णको कभी भी भगवान् नहीं जानते। श्रीकृष्ण उनके लिये प्रेष्ठ हैं, प्रियतम हैं, श्रेष्ठ नहीं। श्रीकृष्ण गोपियोंके प्राणेश्वरमात्र हैं, जगदीश्वर नहीं। फिर इस प्रकारकी जो उक्ति दृष्ट होती है, वह उनके स्वयंद्वारा जानी हुई या विश्वास की हुई बातें नहीं हैं, मात्र सुनी-सुनायी बातें हैं। गर्गाचार्य, पौर्णमासीदेवी प्रभृतिके मुखसे उन्होंने सुना है कि श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं, ईश्वर हैं। प्रयोजन होनेपर यही सुनी बात वे प्रयोगमें ले लेती हैं। जिस प्रकार किसी दरिद्र स्त्रीके पास स्वयंके अच्छे वस्त्र-अलंकार नहीं होते; किंतु किसी विशेष अनुष्ठानमें सम्मिलित होनेके लिये वह अपने प्रतिवेशी धनी गृहिणीसे उधार माँगकर ले जाती है और अनुष्ठान सम्पन्न होनेके बाद लौटा जाती है, उसी प्रकार गोपियाँ भी ये उक्तियाँ उधार लेकर प्रयोजनके समय काममें ले लेती हैं। 'श्रीकृष्ण ईश्वर हैं' यह भावना गोपियोंकी अन्तरकी निजस्व—सम्पद् नहीं है।

श्रीकृष्णके साथ मिलनकालमें वे इसका कभी भी प्रयोग नहीं करतीं। विरहकालमें, क्रन्दन-कालमें, निवेदन या प्रार्थना करते समय या वाम्यभावसे उलाहना देते समय वे अन्यके मुखसे सुनी-सुनायी ये बातें कुछ समयके लिये उधार लेकर उनका व्यवहार-मात्र करती हैं। श्रीकृष्ण ही पूर्वलीलामें श्रीराम या श्रीवामन थे, ऐसी कोई उक्ति इस श्लोकमें नहीं है। '**तदलमसितसख्यैः**'—असितके साथ मित्रतासे अब कोई प्रयोजन नहीं, यही मात्र लिखा है। 'असित' शब्दका अर्थ है श्यामवर्ण। निर्वेद-संचारीभावकी प्रगाढतावश इस स्थलपर श्रीराधाके मनमें श्यामवर्ण-मात्रके लिये दोषदृष्टि उद्भूत हुई है। 'श्याम' नाम उच्चारणसे भी वे भीता हैं, तभी 'असित' कहा है। जगत्में जो-जो श्यामवर्ण हैं, वे सभी कुटिल और निर्दय हैं। श्रीराम इतने अच्छे और गुणवान् होते हुए भी केवल श्यामवर्ण होनेके कारण उन्होंने बाली और शूर्पणखाके प्रति निर्दयताका व्यवहार किया। कश्यप-पुत्र वामन आजन्म ब्रह्मचारी और निःसंग होते हुए भी बलिके प्रति धूर्तताका आचरण किया—केवल श्यामवर्णके थे, इसीलिये वर्णगत साम्य-हेतु श्रीराम और वामन-सदृश अच्छे व्यक्ति भी जब निर्मम हो गये, तब श्यामवर्ण यदुपति, जो स्वभावसे ही कुटिल हैं, निर्दय और कपटी होंगे, इसमें क्या संदेह रह जाता है? इसीलिये श्रीमतीने ये उक्तियाँ श्यामलताके कौटिल्यसे भीता होकर ही कही हैं, न कि श्रीकृष्णके प्रति ईश्वर-बुद्धि-हेतु। वस्तुतः ये सभी उक्तियाँ किसी प्रकारकी विचार-बुद्धिसे उद्भूत नहीं हैं, ये तो महाभावसमुद्रकी तरंगमालाके असंख्य उच्छ्वासमात्र हैं। यही तो 'चित्रजल्प' का मूल उत्स है।

अभिजल्प—आलापमें कुटिलता, आजल्प—कार्यका दुःखदायित्व, प्रतिजल्प—सम्मानयुक्त दैन्य और सुजल्प—गाम्भीर्यपूर्ण ऋजुता

पूर्वजन्मे राम हइया, बाली कपि विनासिया,
येह कैल व्याधेर आचार।
सूर्पणखार नासाकर्ण, ताहा कैल छिन्न भिन्न,
बड़ई निर्दय मन तार॥
पुनश्च वामन हइया, बलिर सर्वस्व लइया,
दृढ़ बन्धन करिल ताहार।
हेन कृष्णवर्ण ये, तार सख्य चाहे के,
तबु तार कथा छाड़ा दाय॥

'पूर्व-जन्ममें श्रीराम होकर वानरराज बालीको मारकर व्याधके अनुरूप आचरण किया, शूर्पणखाके नाक-कान काटकर अपनी निर्दयता प्रकट की। पुनः वामन होकर राजा बलिका सर्वस्व हरण करके उसे बन्धनमें डाल दिया। इस प्रकारके कृष्णवर्णवाले व्यक्तियोंकी सख्यता चाहता कौन है? किंतु हाय! उसकी लीला-कथाका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर है।'

'**दुस्त्यजस्तत्कथार्थः**'—मैं गोविन्दकी लीला-कथा-सम्पद्का कदापि त्याग नहीं कर पा रही हूँ। उसकी चरम निर्दयताका मुझे पता लग गया है, इसलिये उसका तो मैंने पूर्णतः परित्याग कर ही दिया है, किंतु हाय! उसकी कथाका त्याग नहीं कर सकी। इस प्रकार बोलते-बोलते ही श्रीराधाका मन श्रीकृष्ण-कथाकी

भावनामें डूब गया। प्रथमतः तो श्रीराधाका स्वाभाविक वाम्यभाव, द्वितीयतः उनकी दिव्योन्माद-अवस्था और तदुपरि भ्रमरको श्रीकृष्ण-प्रेरित दूत समझकर उसके दर्शनसे मानवती बनी हुई हैं। इसीलिये अनन्यसाधारण वक्रिमावश श्रीकृष्ण-कथाके दोष गिना-गिनाकर उद्‌गार प्रकट करने लगीं—

'श्रीकृष्णकी कथा रमणीय अवश्य है, किंतु है केवल आपात-कर्ण-सुखकर। जो सुनता है, उसकी ही क्षति होती है। धार्मिक व्यक्ति सुनकर धर्मके प्रति आस्थाहीन हो जाता है, धनी व्यक्ति सुनकर धनके प्रति आदरशून्य हो जाता है और भोगी सुनकर भोगोंके प्रति आसक्तिहीन हो जाता है। समझमें नहीं आता कि उसकी कथामें ऐसी कौन-सी मायामयी मोहिनी शक्ति है? उसकी सूरत भी जैसी मोहिनी है—अपनी मोहिनी मूर्तिसे वह शिवतकको भ्रममें डाल देता है, उसकी कथा भी वैसी ही है—जो सुनता है वही अपने स्नेह और आदरके पात्र—सभीको भुला देता है।

'इस कथाका तो एक कणमात्र आस्वादन करनेपर ही मनुष्यका द्वन्द्वधर्म नष्ट हो जाता है। स्त्री सुनती है तो उसका अपने पतिके प्रति प्रेम समाप्त हो जाता है। पति सुनता है तो उसकी पत्नीके प्रति आसक्ति दूर हो जाती है। पुत्रकी माता-पिताके प्रति श्रद्धा नष्ट हो जाती है और माता-पिताकी संतानके प्रति ममता समाप्त हो जाती है। कैसी मादकता है उसकी कथामें। वह जिसके कर्णमें प्रवेश करेगी, उसीका सर्वनाश कर देगी। जिनका चित्त अत्यन्त कोमल है, जो अतीव स्नेहपरायण हैं, वे भी कुटिल श्रीकृष्णकी लीला-कथा सुनते ही एकदम दयाहीन और निर्मम हो जाते हैं तथा अपने अत्यन्त दीन-दरिद्र असहाय माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्रतकको साधारणभावसे

ही परित्याग करके चले जाते हैं, उनके मनमें इसके लिये कतई कुण्ठाबोध नहीं होता। इस प्रकारके स्नेह-प्रवण व्यक्तियोंका भी इस सीमातक निर्दयताका व्यवहार देखकर ही मनमें यह बात पक्की जम जाती है कि श्रीकृष्णकथा-श्रवण-हेतु ही उनका ऐसा स्वभाव बन गया है (**सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीनाः**)।

'निर्दय होकर, सब कुछ छोड़-छाड़कर, अन्तमें यदि वे स्वयं अल्पमात्रामें भी सुखी हो सकते तो भी मनको किंचित् प्रबोध दिया जा सकता था, किंतु ऐसा भी नहीं होता। वे लोग पक्षियोंकी तरह चुग-चुगकर अपना उदर पोषण करते हैं और भिक्षुधर्मद्वारा जीवन-धारण करते हैं (**भिक्षुचर्यां चरन्ति**)। वे मानो एकदम पक्षी ही हो जाते हैं। पक्षी भी उड्डयनक्षम पक्षी नहीं, हंस। हंस भी छोटे हंस नहीं, बड़े परमहंस। इस प्रकारके मनुष्योंकी संख्या भी कोई दो-चार ही नहीं होती, बहुत होती है (**बहव इह विहंगाः**)। श्रीकृष्णकी लीला-कथा सुनकर जिन मनुष्योंने अपार दुःखोंका वरण किया है, उनकी संख्या सहस्रोंमें है। उनकी दुर्गतिका मूल कारण लीला-कथा-श्रवण ही है। जो इस लीला-कथाको ग्रन्थाकारमें लिखकर या वाणीद्वारा प्रचार करते हैं, वे तो साधुवेषी परपीडक और हत्यारे हैं। अन्यको दुःख देना ही उनका स्वभाव है। अन्यको दुःखी देखकर वे सुखका अनुभव करते हैं। कोई हरि-कथा सुनकर अश्रुपात करता है तो ऐसे लोग सुखी होकर उसकी प्रशंसा करते हैं।'

श्रीराधाने वाम्यस्वभाव-हेतु श्रीकृष्ण-कथाकी उपर्युक्त जो समस्त विपरीत महिमाका कीर्तन किया, मूलतः वह सभी तथ्य है। व्याजस्तुतिद्वारा इससे श्रीकृष्ण-कथाकी सर्वोत्कृष्टता ही प्रकाशित हुई। सचमुच ही हरि-कथामें ऐसा मोहन माधुर्य भरा पड़ा है कि यह जिस व्यक्तिके भी कर्णगोचर होती है, उसके

मनमें जागतिक विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वह फिर अहर्निश पक्षीकी तरह व्रजवीथियोंमें भगवद्गुणगान करता हुआ मस्त बना घूमता रहता है। वनवासी होकर मधुकरीद्वारा ही अपना निर्वाह करता है '**बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति**'— पक्षी होकर भिक्षावृत्तिद्वारा जीवन-यापन करता है। श्रीकृष्ण-कथा सज्जनोंको दुःख देती है, अतः उसका त्याग करना ही उचित है, किंतु मैं किसी भी प्रकारसे उसका त्याग नहीं कर पा रही हूँ।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १८)

अनुतापभंगिसे दोषोंका उद्गार होनेके कारण इस श्लोकमें 'चित्रजल्प' का अभिजल्प नामक भेद प्रकटित हुआ है। उसके लक्षण हैं—

भङ्ग्या त्यागौचिती तस्य खगानामपि खेदनात्।
यत्र सानुशयं प्रोक्तं तद् भेदमभिजल्पितम्॥

विरहिणी श्रीराधिका भावकर्णोंद्वारा भ्रमर-गुंजन सुन रही हैं। भ्रमर कह रहा है—'देवि! पहले प्रियतमका संदेश तो श्रवण करो, फिर उसपर विचार करके जो जँचे सो कहियेगा।' श्रीराधा बोलीं—'नहीं रे, और नहीं सुनूँगी। उस कपटीकी बात अब और नहीं सुनूँगी। पूर्वमें बहुत सुन चुकी हूँ। उसकी कुटिलताभरी बातें सुननेका पहले भी अनेक सुयोग मिल चुका हैं (**जिह्मव्याहृतम्**)। जिस प्रकार हरिणियाँ व्याधका गान सुनकर मुग्ध हो जाया करती हैं, वैसी ही दशा हमारी हो चुकी है (**कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः**),

किंतु उसका फल क्या हुआ? व्याधकी वंशीकी मधुर तान श्रवण कर मुग्ध होनेका अर्थ है—'व्याधके शराघातसे प्राणत्याग।' तेरे सखा कपटी श्रीकृष्णके मिथ्या वाक्योंद्वारा मुग्ध होनेका फल भी वही है। उसके नखस्पर्शमें जो तीव्र विष भरा है उसके अन्तर्दाहसे प्राण निकले जा रहे हैं। हरिणियाँ बाणाघातसे मर तो जाती हैं, जिससे मृत्युके पश्चात् ज्वाला तो नहीं सहन करनी पड़ती, किंतु हम तो मर भी नहीं पा रही हैं, कारण, उसके नख-स्पर्शमें एक अमृत-कण भी छिपा है। हमने उसी अमृतका आस्वादन कर लिया है। उसका स्पर्श ही विषामृतमिश्रित है। विषसे होती है मृत्यु-तुल्य जलन और अमृत मरने नहीं देता। ताप-ज्वालाको चिरस्थायी बना देता है।

'अरे छलियेके मन्त्री! छल-विद्याविशारद भ्रमर! अब चुप क्यों हो गया? सुन—इस श्रीकृष्ण-कथाका चिरत्याग करके कोई अन्य वार्ता सुना (**भण्यतामन्यवार्ता**)। एक श्रीकृष्ण-कथाके अतिरिक्त हम सब कुछ सुननेको तैयार हैं। दूसरी सब बातें अच्छी हैं। तू श्रीकृष्ण-कथाके अतिरिक्त अन्य कुछ जानता ही नहीं क्या?

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १९)

'अन्य कथा कहो मुखे, सुनि मने पाइ सुखे,
ना करिह कृष्णेर वर्णन।'

अपने मुखसे श्रीकृष्णकथाके अतिरिक्त अन्य कुछ बोलो, जिसे सुनकर मनमें शान्ति मिले; श्रीकृष्णकथाका वर्णन मत करो।'

इस 'चित्रजल्प' में श्रीकृष्ण-कथाकी अत्यन्त निर्वेदयुक्त कुटिलता एवं दुःखदायकताका वर्णन हुआ है। साथ-साथ तत्कथाके अतिरिक्त अन्य कथाकी सुखदायकताकी ओर भी इंगित रहा है। 'आजल्प' नामक चित्रजल्पके भेदके ये लक्षण हैं—

जैह्म्यं तस्यार्तिदत्वं च निर्वेदाद् यत्र कीर्तितम्।
भंग्यान्यसुखदत्वं च स आजल्प उदीरितः॥

प्रचण्ड मानवती होकर श्रीराधा यह सब कह रही हैं। यह मान दिव्योन्मादके विरहसमुद्रमें भासमान (तैर रहे) एक द्वीप-सदृश है। हठात् एक भावतरंगके आघातसे यह द्वीप जलमग्न हो गया। भ्रमरको अब न देख पाने-हेतु मान तिरोहित होकर कलहान्तरिता अवस्थाका उदय हो गया।

चरणोंमें पतित वल्लभकी क्रोधयुक्तभावसे उपेक्षा करनेके कारण जो नायिका तत्पश्चात् परितापयुक्त हो जाती है, उसे 'कलहान्तरिता' कहते हैं—

या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा।
निरस्य पश्चात् तपति कलहान्तरिता तु सा॥

परंतु यहाँ श्रीराधाने श्रीकृष्णकी उपेक्षा नहीं की है, अपितु श्रीकृष्ण-प्रेरित भ्रमरकी उपेक्षा की है। इस भावनासे भी श्रीमतीको गहरा विषाद हुआ—'हाय! हाय! कितना अन्याय हुआ! मानप्रसादन-हेतु प्राणनाथने दूत भेजा और मुझ हतभागिनीने अत्यन्त कठोर वचनोंसे उसका तिरस्कार कर दिया। वह अपमानित एवं तिरस्कृत होकर लौट गया है। अब क्या करूँ?' विरहिणी श्रीराधा अत्यन्त व्याकुल होकर रोदन करने लगीं और अपलक नेत्रोंसे भ्रमरके आगमन-पथपर दृष्टि लगाये रहीं। यदि भ्रमर लौट आया तो दुबारा इस प्रकार कठोरतासे तिरस्कार नहीं करूँगी। यह सोचते-सोचते सहसा भ्रमर दृष्टिगोचर हुआ। इस बार स्वरकी धारा बदलकर कहने लगीं।

'प्रिय सखे! पुनः आ गये क्या (**पुनरागाः**)? क्या तुम मेरे प्राण-प्रियतमके समीप लौट गये थे? उनके पास मेरी दुर्दशाकी सारी कहानी सुना दी? उन्होंने तुम्हें पुनः मुझे सान्त्वना देने-हेतु इधर भेजा है? '**प्रेयसा प्रेषितः किम्**'—'प्रियतमने भेजा है क्या?' प्रेमपूर्ण आर्तकण्ठसे ऐसा कहते ही श्रीराधा निदारुण मूर्च्छादशाको प्राप्त हो गयीं।

मूर्च्छिता श्रीराधाकी अवस्थाका संदर्शन कर उद्धवजी विचलित हो गये, उनका धैर्य विलुप्त हो गया। 'विरह' शब्द तो अनेक बार सुना था, किंतु आज उद्धवजीने उसकी साक्षात् प्रकट मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन किया। वे सुनने लगे उनकी प्रलापोक्ति। विरहिणी श्रीराधा मूर्च्छादशामें ही मोहयुक्त प्रलाप करने लगीं—'मेरे कठोर व्यवहारसे भी क्षुब्ध हुए बिना तुम लौट आये हो, मधुकर अहा! तुम्हारे इस प्रेमपूर्ण व्यवहारका ऋण मैं किस प्रकार चुकाऊँ? प्रिय भ्रमर! तुम हमारे सम्माननीय अतिथि हो (**माननीयोऽसि मेऽङ्ग**)। तुम हमारा प्रिय कार्य-सम्पादन करनेवाले हो। तुम हमसे अपने इच्छानुसार जो चाहो सो वर माँग लो (**वरय किमनुरुन्धे**)। दूत! हमने तुमसे अनजानमें जो एकपक्षीयताका कटु वचन कहा है, वह हमसे महान् अन्याय हुआ है। वस्तुतः हमारी इन्द्रियाँ हमारे वशमें नहीं हैं। कृपया हमारी इस त्रुटिको ग्रहण मत करना। अब अपनी अभिलषित वस्तु हमें बता दो। हमारी सामर्थ्यमें हुई तो हम उसे तुम्हें अवश्य प्रदान करेंगी।'

पुनः कर्णोंमें भ्रमर-गुंजन सुनकर कहने लगीं—'क्या बोले? तुम दूत हो, मुझे रथमें चढ़ाकर अपने प्रभुके पास मथुरा ले जाना चाहते हो? प्रिय दूत! मैं तुमसे अनुनय कर रही हूँ, ऐसी बात मत कहना। तुम तो अरसज्ञ भी नहीं हो, अविवेचक भी नहीं हो। प्राणनाथको अभी सपत्नियाँ घेरे बैठी हैं। मेरे वहाँ जानेसे

उन्हें भी दु:ख होगा और मुझे भी दु:ख होगा। विरह-वेदनासे मेरे सारे मर्मस्थल पहले ही जल-जलकर टूटे जा रहे हैं, तदुपरि पुनः सपत्नी-विद्वेष-ज्वालामें मुझे भस्मीभूत क्यों करना चाहते हो? क्या बोले?—वहाँ कोई सपत्नी नहीं है? सौम्य! क्यों असत्य बोल रहे हो? मुझे यहींसे प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है—श्रीवधू उनके वक्षःस्थलपर आरामसे विराजमान है (**सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते**)।

'सेथा आमि ना जाइव, जाया संग नाहि पाव,
लक्ष्मी हृदे आछ्य बसिया।'

'नहीं, नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, सपत्नीके साथ नहीं रह सकूँगी। उनके हृदयमें लक्ष्मी विराजमान जो है।'

'वे जबतक व्रजमें थे, उनका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण था, लक्ष्मीको कहीं स्थान नहीं मिला। वह वक्षःस्थलके एक पार्श्वमें एक क्षीण स्वर्णरेखा-रूपसे पड़ी रहती थी। अब उनके सारे हृदयको ऐश्वर्य चारों ओरसे घेरे बैठा है। लक्ष्मी अब मात्र स्वर्णरेखा-रूपसे ही नहीं रहती है। अब तो वह पूरे वक्षःस्थलपर अधिकार किये विलास कर रही है। भ्रमर! तुम्हीं बताओ न, इस प्रकारकी स्थितिमें मैं वहाँ उनके समीप कैसे जा सकती हूँ? अतएव तुम उन्हें ही मेरे समीप ले आओ। यही श्रीराधाके हृदयकी गूढ लालसा है—

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २०)

—इस श्लोकमें लक्ष्मीके प्रति ईर्ष्या है। दूतके प्रति सम्मान

है, किंतु दूतको वरदानकी प्रतिश्रुति देकर भी उसकी माँगको अनुचित बताकर उसका अस्वीकार है। पूर्वकी भाँति उद्धतभाव नहीं है, अपितु अनुद्धतभावसे विनयसहित स्तुति है। युक्तिकी भी अवतारणा है। इसका नाम 'प्रतिजल्प' है। इसके लक्षण हैं—

दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिर्नार्हत्यनुद्धतम्।
दूतसम्माननेनोक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः॥

श्रीकृष्णके समीप उनकी अन्य प्रियतमाएँ विराजमान हैं, अतः वहाँ जाना उचित नहीं है—इस युक्ति-प्रदर्शनपूर्वक विनयसहित दूतके प्रति सम्मानयुक्त जो प्रलापोक्ति है, उसे 'प्रतिजल्प' कहते हैं।

इस प्रकार बोलते-बोलते हठात् श्रीराधाका प्रणयकोप एवं तज्जनित वाम्यभाव दूर हो गया, किंतु वे भ्रमरको तब भी देख रही हैं। श्रीराधाको लगा कि श्रीकृष्ण-दूतके प्रति उनका व्यवहार अतीव रूक्ष और अनुचित हुआ है। अनुतप्त हृदयसे वे स्वगत कहने लगीं—'मेरे द्वारा कितना अनुचित कार्य हो गया। प्राणप्रियतमने मुझे सान्त्वना देने-हेतु दूत भेजा और मैंने उससे कुछ जिज्ञासा-योग्य संवाद पूछा ही नहीं—इसके विपरीत उसकी भर्त्सना कर बैठी।' इस भावनासे कुछ सरलता, दैन्य तथा उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। अश्रुपूरित नयनोंसे गद्गदकण्ठ होकर वे दूतसे पूछने लगीं—

'भ्रमर! वर्तमानमें आर्यपुत्र क्या मथुरामें ही हैं? (**अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते**)।' भ्रमरके गुंजन-स्वरमें श्रीराधाको सुनायी दिया—'हाँ, मधुपुरीमें ही हैं।' श्रीराधा बोलीं—'यदि मथुरामें ही हैं तो फिर माँ यशोमती एवं पिता नन्दजीका कभी स्मरण भी करते हैं? (**स्मरति स पितृगेहान्**)। व्रजके आत्मीय-स्वजन और सखाओंकी बात उन्हें याद है क्या? यदि कहो 'है' तो फिर व्रजमें आते क्यों नहीं? आकर एक बार देख जाना

उचित है कि उनके अभावमें व्रजके गृहोंकी कैसी दुरवस्था हो गयी है। मिट्टी, घास-फूस और मकड़ीके जालोंसे व्रजके गृह भरे पड़े हैं। क्या दिनान्तमें एक बार भी श्रीकृष्णको इन सबकी याद आती है? यहाँकी दुर्दशाकी कल्पना करके यदि एक बार भी यहाँ आवें तो देख पायेंगे—एक दिन जो व्रज परमानन्दसे भरपूर था, आज वही व्रज एक आवर्जनापूर्ण कूड़ाघर बन गया है। मधुकर! हमारे प्रियतम कभी इन दीन-हीन हतभागिनी दासियोंकी बात भी स्मरण करते हैं क्या? कोई याद दिला दे तो सम्भवतः कभी कदाचित् स्मरण कर लेते होंगे, किंतु हम ऐसा नहीं सुनना चाहतीं। किसी कथा-प्रसंगमें स्वतः उत्सारितभावसे कभी हमारी बात श्रीमुखसे उच्चारण करते हैं क्या? (**क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते**)?

'कोई गुँथी हुई माला देखकर क्या कभी कहते हैं—'हाँ, यह माला बहुत सुन्दर है, किंतु व्रजसुन्दरियोंद्वारा गुँथी हुई माला-जैसी मनोहारिणी नहीं है।' अपनी प्रियाओंद्वारा रचित शय्यापर शयन करने जाकर क्या कभी कहते हैं—'हाँ, इस शय्या-रचनाकी परिपाटी निराली अवश्य है, किंतु व्रजललनाओंकी शय्या-रचनाका नैपुण्य और कहीं देखनेको नहीं मिलता।' अपने श्रीअंगोंकी शोभा दर्पणमें देखते हुए क्या कभी हठात् कह उठते हैं—'कितने ही सुन्दर वस्त्रालंकार क्यों न पहनूँ, किंतु व्रजांगनाओंद्वारा अत्यन्त अनुरागसहित रचित वनमाला एवं गुंजाहारोंसे सजनेमें जो सुख प्राप्त होता था, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।' मथुराकी किसी सेवादासीको पुकारते समय कभी भ्रमवश इन व्रजवासिनियोंका नाम लेकर भी पुकार बैठते हैं क्या? मधुकर! हम तो उनकी अयोग्य सेविकाएँ थीं। अन्यद्वारा की जानेवाली सेवाको देखकर कभी

इन दीन-दुखिया सेविकाओंकी अक्षमताकी बात भी उनके मनमें जाग उठती है क्या?'

'हाय रे भ्रमर! हम और क्या ही जिज्ञासा करेंगी? हमारे सारे अन्तरको व्याप्त करके केवल एक ही जिज्ञास्य है। उनकी बाहुकी गन्ध उनके अन्तरसे भी अधिक मनोहारिणी थी। जिस प्रकार अगुरु और चन्दनवृक्षोंके समीपस्थ वृक्षोंमें भी अगुरु-चन्दनकी सुगन्ध प्रसारित हो जाती है, उसी प्रकार उनके करस्पर्शसे हमारे अंगोंमें भी अगुरु-गन्ध प्रसारित हो जाती थी और हमारे अंगोंसे सुगन्ध निकलती रहती थी। उस स्पर्शमणिके स्पर्शसे हमारी तुच्छ देह भी स्वर्णवर्ण हो गयी थी। आज उनके विरहमें इस देहमें न तो वह वर्ण ही रहा है और न वह गन्ध ही रही है।'

'भ्रमर! इस व्रजके वे व्रजजीवन अब वापस यहाँ कब आयेंगे और अपनी विशाल बाहु हमारे मस्तकपर कब रखेंगे? (**भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु**)। कब अपना अभय हस्त हमारे मस्तकपर रखकर यह आशीर्वाद देंगे जिससे इस प्रबल विरहाग्नि-तापसे कभी दग्धीभूत न होना पड़े। फिर कब इन भाग्यहीनोंका अपनी अगुरु-सुगन्धयुक्त सुवर्तुल बाहुद्वारा आलिंगन करेंगे? कब हमें अपनेमें इस प्रकार निविडरूपसे आत्मसात् कर लेंगे कि फिर अनन्त जीवनयात्रामें कभी उनसे बिछुड़ना न पड़े'—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २१)

दशविध चित्रजल्पका यह अन्तिम भेद है। इसका नाम 'सुजल्प' है। इसके लक्षण ये हैं—

यत्रार्जवात् सगाम्भीर्यं सदैन्यं सहचापलम्।
सोत्कण्ठं च हरिः पृष्टः स सुजल्पो निगद्यते॥

दिव्योन्माद-अवस्थामें विचित्रतामय प्रलाप करते-करते जब सरलता, गाम्भीर्य, दैन्य और चापल्य प्रकट होते हैं और दूतसे उत्कण्ठासहित प्रियके संवादकी जिज्ञासा की जाती है, तब उसे 'सुजल्प' कहते हैं।

ऋजुता गाम्भीर्य दैन्य सोत्कण्ठा चपल।
सुजल्प जिज्ञासा करे संवाद सकल॥

—इस श्लोकमें 'आर्यपुत्र मथुरामें ही हैं क्या?'—इस वाक्यसे सरलता प्रकट होती है। माता-पिता, बन्धु, आत्मीय स्वजनोंकी जिज्ञासा करके भी अपनी स्वयंकी जिज्ञासा न करनेमें गाम्भीर्य प्रकाशित हो रहा है। 'इन दासियोंकी बात भी कभी स्मरण करते हैं क्या?'—इस प्रश्नमें दैन्य स्पष्ट झलकता है। 'फिर कब अपना श्रीहस्त मस्तकपर रखेंगे?'—

इस प्रश्नमें चापल्य और उत्कण्ठाकी अभिव्यक्ति स्पष्ट है।

शुधाइ विनये अति, मथुरार प्राणपति,
पितृगृह स्मरे कि कखन?
गोपगणे पड़े मने, एइ दिव्य वृन्दावने,
पड़े मने यत केलिगण?
मोरा चिर किंकरी, कभु कि स्मरेन हरि,
कथा किछु कहे कि कखन?
ताँर दीर्घ भुजदण्ड, याहाते अगुरु गन्ध,
शिरे कबे करिवे अर्पण?
कबे पुनः पाव दरशन!

'हम सब अत्यन्त विनयके साथ पूछ रही हैं—मथुरा-निवासी हमारे प्राणपति कभी पितृगृहका स्मरण भी करते हैं? उन्हें इस दिव्य वृन्दावनके गोप और सखाओंकी कभी याद भी आती है? हम सब उनकी चिरकालकी दासियाँ हैं, क्या नाथ कभी हमारी याद कर हमारी बात पूछते भी हैं? क्या प्रभु अपना अगुरु-सुगन्धयुक्त भुजदण्ड हमारे मस्तकपर फिर रखेंगे? हमें फिर उनका दर्शन कब प्राप्त होगा?'

'वे हमारे अंगका पुनः कब स्पर्श करेंगे?'—कहते-कहते श्रीराधाके मानस-पटलपर श्रीकृष्णके आजानुलम्बित सुवर्तुल बाहुयुगलोंकी स्मृति उदित हो गयी। उनके अंगोंमें अतीव सुदीप्तरूपसे अष्ट सात्त्विकभावोंका विकास हो गया। उन वर-अंगोंमें अधिरूढ महाभाव परिस्फुट हो उठा। नयनोंसे विगलित अजस्र अश्रुधारासे भूमि प्लावित होने लगी। सारी देह कदलीपत्रसदृश कम्पायमान होने लगी। अंगोंसे स्वेदधारा बह चली। अजस्र लालास्रव होने लगा। श्वासावरोध हो गया।

'दशेन्द्रिय छेड़े गेल, नव द्वार बन्ध ऐल,
शवप्राय पड़े कलेवर।'

उनकी ऐसी भीषण दशा हो गयी कि यह बोध भी नहीं रहा, मानो देहमें प्राण हैं भी या नहीं। आजतक (अभिधानमें) 'विरहवेदना' एक शब्दमात्र था। आज उद्धवजीके नेत्रोंके सम्मुख 'विरहवेदना' की एक साकार मूर्ति प्रकट हो गयी।

उद्धवकी व्याकुलता

धीरे-धीरे श्रीराधाका दिव्योन्माद शान्त हुआ। प्रणयकोप और मान तिरोहित हुए एवं स्वाभाविक विरहका उदय हुआ। इतनी देरतक श्रीमान् उद्धव एक पार्श्वमें खड़े थे। अब धीरे-धीरे ससम्भ्रम श्रीराधाके समीपस्थ हुए। जैसे सागर-नदी-संगमपर तूफान उठनेपर माँझी अपनी नौकाको एक पार्श्वमें लगाकर रखता है, जिससे कि तरंगोंकी चपेटसे नौका टूटकर डूब न जाय, उसी प्रकार श्रीराधाके महाभाव-समुद्रकी उत्ताल तरंगोंको देखकर इतनी देरतक उद्धवजी भी दीनकी तरह एक पार्श्वमें दण्डायमान थे। किंचित् भावोपशम देखकर अब समीपवर्ती हुए।

वे परम आनन्द, उल्लास एवं विस्मयसे अभिभूत होकर बोल उठे—'अहो!' जो कुछ देखा तथा सुना है उससे उद्धवजीके हृदयकी जो दशा हुई है, उसका उत्तम प्रकाशक यह 'अहो' शब्द ही है। इन दो अक्षरोंमें मानो भावराज्यका गम्भीर इतिहास छिपा पड़ा है। यह मानो अन्तस्तलका निरुपम उच्छ्वास हो। विस्मयकी स्तब्धता और आनन्दकी मुग्धता—इन दोनोंको वहन करके मानो उद्धवजीके कण्ठसे 'अ-हो' यह द्व्यक्षर अव्यय शब्द निकल पड़ा।

रोरुद्यमान व्यक्तिके लिये सान्त्वना-वाक्य कहना कर्तव्य हो जाता है, किंतु उद्धवजीको विश्वभरकी भाषाओंमें भी विरहकी इन साकार मूर्तियोंको सान्त्वना देने योग्य शब्द नहीं मिले। सांसारिक लोग अपने प्रियजनोंके विरहमें कातर हो रहे हों तो उन्हें यह कहकर सान्त्वना दी जा सकती है कि 'इस जगत्के सारे सम्बन्ध मिथ्या हैं और परम पुरुषके साथका सम्बन्ध ही सत्य तथा आनन्दमय है।' ऐसा कहकर यदि उसके व्यावहारिक

जगत्‌के सम्बन्धजन्य मोहको थोड़ी मात्रामें भी शिथिल कर दिया जाय तो शोकार्त्तका शोक थोड़ा-बहुत हलका होना सम्भव भी है, किंतु इस प्रकारकी सान्त्वना इस क्षेत्रमें तो नहीं चल सकती। जिनके हृदयमें श्रीकृष्णके लिये इतनी तीव्र व्याकुलता हो, उन्हें किस प्रकार कहा जाय कि 'आप श्रीकृष्णके लिये विलाप न करें।' ऐसा कहना तो महान् अपराधका कार्य हो जायगा। कारण, श्रीकृष्णके लिये व्याकुलता ही जीवके जीवनका परम पुरुषार्थ है। वही पुरुषार्थ व्रजांगनाओंने प्राप्त कर लिया है और मैं ऐसा नहीं कर पाया। इन्हें देखकर मनमें स्वयंके प्रति धिक्कारकी भावना जाग्रत् होती है। मैं इन्हें किस प्रकार कहूँ कि 'आप और अधिक विलाप न करें।' इसके विपरीत मेरी तो यह कहनेकी इच्छा होती है कि 'और अधिक रुदन करें, जिससे मैं अपने नयनों एवं कर्णोंको सार्थक करूँ।' ऐसा दुर्लभ भाव एवं भाषा अनन्त विश्वभरमें कहीं अन्यत्र तो मिलनेकी नहीं।

उद्धवजी बोले—आपलोगोंकी उपमा आप ही हैं, आप निरुपमा हैं। आपके भावकी कोई तुलना नहीं। आप 'पूर्णार्था' हैं। समस्त पुरुषार्थोंका शिरोमणि है श्रीकृष्ण-प्रेम, जिससे आप परिपूर्ण हैं। दूसरोंको इस सम्पद्‌की प्राप्तिके लिये न जाने कितनी साधना करनी पड़ती है और आपकी तो यह निजस्व-सम्पद् है। श्रीकृष्ण-प्रेमधनके सारे निर्यासद्वारा ही आपकी सत्ता गठित है, इसीलिये आप हैं 'लोकपूजिता'। आपके इस प्रेमकी पूजा सभी करते हैं, किंतु सहसा कोई इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। सर्वाश्रय वासुदेवमें आपलोगोंका मन सर्वतोभावसे समर्पित हो चुका है। ऐसा परिपूर्ण समर्पण और कहीं देखनेको नहीं मिला। संसारमें जितने प्रकारकी साधनाएँ हैं, उन सब साधनाओंका चरम लक्ष्य तो श्रीकृष्ण-भक्ति ही है—

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २४)

शास्त्रोंमें दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, स्वाध्याय, संयम आदि जितने प्रकारके साधन-भजनोंका उल्लेख है और साधकगण जिनका अनुशीलन किया करते हैं, उन सबका चरमतम लक्ष्य तो श्रीगोविन्दके चरणोंमें ऐकान्तिकी रतिकी प्राप्ति ही है। वही परमा रति आपलोगोंकी निजस्व—परम सम्पद् है। अन्य जनोंके लिये जो धन साध्य है, आपलोगोंके लिये वही सिद्ध है। अतएव आपलोग और आपलोगोंका भाव सर्वलोकवांछित एवं पूजित है। आप ही सबकी आराध्य सम्पद् हैं। जो प्रेमभक्ति सबकी काम्य है, आप उसकी जीवन्त श्रीविग्रह हैं। अतएव आप ही सर्वजीवोंके धन हैं। उत्तमश्लोक श्रीगोविन्दमें आपलोगोंकी भक्ति 'अनुत्तमा' है, अर्थात् जिसकी अपेक्षा अधिक उत्तम और हो नहीं सकती—वैसी सर्वोत्तमा, सर्वसाध्यशिरोमणि है। समस्त साध्योंकी जो अवधि है, परिसीमा है, आपलोग उसीमें चिरस्थित हैं। जिस प्रकार दाहिका शक्ति अग्निकी अर्जित वस्तु नहीं है, वह तो अग्निके संग एकात्मता-विशिष्ट है, उसी प्रकार महाभावलक्षणा भक्ति आपकी सत्ताके संग एकीभूत है। यह वस्तु '**मुनीनामपि दुर्लभा**' है। यही महाप्रेमलक्षणा-भक्ति-रूपी महावस्तु आपलोगोंके द्वारा ही इस जगत्में 'प्रवर्तित' हुई है। कारण, आपके महा-अनुरागमयी भक्तिपूर्ण कार्यकलापोंकी कथा जो श्रवण करते हैं, वे भी आपलोगोंके सदृश गाढ़ व्याकुलतापूर्ण भक्तिकी प्राप्ति कर लेंगे। जिस वस्तुकी उपमा स्वयं वही है, अन्य कोई वस्तु जिसकी उपमा नहीं हो सकती, उसका माहात्म्य वर्णन करनेयोग्य अन्य भाषा भी नहीं मिल सकती। आपके अतिरिक्त अन्य किसी देहमें इस महाभावात्मिका भक्तिको धारण करनेकी क्षमता भी नहीं है।

अतएव एतादृशी भक्तिका गुणकीर्तन करनेकी शक्ति भी मुझमें नहीं है। मैं इस मर्त्यलोकको केवल इसीलिये धन्यवाद देता हूँ कि भावमयी आपलोग इस लोकमें प्रकट होकर अपने आचरणसे यहाँके जीवोंको यह शिक्षा दे रही हैं कि श्रीकृष्णसे किस प्रकार प्रेम करना चाहिये। व्रजकी उपस्थितिसे तीनों लोक धन्य और आपलोगोंकी उपस्थितिसे व्रज धन्य है।

शास्त्रोंमें त्यागधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। इनमें सर्वश्रेष्ठ उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा गया है— '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' जगत्में इस मन्त्रकी भी साक्षात् मूर्ति आपलोग ही हैं। आपलोगोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इसका पूर्ण साक्षात्कार प्रत्यक्षीभूत नहीं होता। कारण, एकमात्र आपलोगोंने ही—

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २६)

—सर्वस्वका त्याग कर पतिरूपसे वरण किया है नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण नामक परम देवताको। एकमात्र आप ही यह कर सकी हैं। अवश्य यह बात भी सही है कि इस जगत्में जिन्होंने भी श्रीकृष्ण-प्राप्ति की है, उन सभीने सर्वस्वका त्याग किया है; किंतु उन सबके त्याग और आपलोगोंके त्यागमें पार्थक्य है। अन्य लोगोंका त्याग विवेक-विचारपर प्रतिष्ठित है, जबकि आपलोगोंका त्याग अनुरागके ऊपर प्रतिष्ठित है। 'सर्वस्वका त्याग करना उचित है'—इस विचारपूर्वक लोग त्याग किया करते हैं, किंतु आपलोगोंने तो श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ अनुरागके आवेगवश सर्वस्वका त्याग किया है। आश्चर्यकी बात यह है कि आपलोगोंको यह ज्ञात भी नहीं है कि आपलोगोंने

कुछ त्याग किया है। दूसरे जो त्याग करते हैं वह उन्हें ज्ञात रहता है। वे पहले त्याग करते हैं, तदनन्तर उसके फलस्वरूप उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है। आपलोगोंने सर्वप्रथम ही पुरुषोत्तमसे प्रेम करके उसकी प्राप्ति की है और उस प्राप्तिके फलस्वरूप सर्वस्वत्याग स्वत: हो गया है। दूसरोंका त्याग है साध्य, आपलोगोंका त्याग है स्वत:। श्रीकृष्णके प्रति गाढ़ अभिनिवेशके फलस्वरूप आपलोगोंको अन्य किसी वस्तुका अनुसंधान नहीं रहता। क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य है, आपलोग कुछ भी नहीं जानतीं। आपलोगोंके इस प्रगाढ़ आवेशमय आचरणसे जगज्जीवोंको यह शिक्षा मिली कि गम्भीर अनुराग-हेतु जो श्रीकृष्ण-प्रीति होती है और श्रीकृष्णभिन्न अन्य तृष्णाका त्याग होता है—वही परम पुरुषार्थ एवं सर्वसाध्यशिरोमणि है।

सर्वस्वरूप श्रीकृष्णके प्रति जो परिपूर्ण प्रेमभाव है, वही सर्वात्मभाव या महाभाव है। महाभावमें यह सामर्थ्य होती है कि वह श्रीकृष्णचन्द्रको पूर्णतम भावसे निरन्तर अन्तराकाश (हृदयाकाश)-में आविर्भूत करके रखता है। उसी महाभावको आपलोगोंने वशीभूत करके अपने अधिकारमें कर रखा है—'**सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे**' (श्रीमद्भा० १०। ४७। २७)।

महाभाव प्रेमकी अष्टम कक्षाका घनतम विलास है। अर्थात् प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—इस प्रकार क्रमश: गाढ़ता प्राप्त होते-होते प्रेम महाभावमें परिणत होता है। यह महाभाव वैकुण्ठेश्वरी लक्ष्मीदेवीको भी अलभ्य है। इस महाभावकी मूर्तिमती विग्रह तो आपलोग ही हैं। वस्तुत: आपलोगोंको कभी भी श्रीकृष्ण-विरह हो नहीं सकता। कारण, प्रेमसे वशीभूत हुए श्रीकृष्ण आपलोगोंका त्याग कर कभी भी

आपसे दूर रहनेमें समर्थ ही नहीं हैं। अतएव आपलोग हैं महाभाग्यवती। आपलोगोंका जो यह श्रीकृष्ण-विरह दीख रहा है, यह तो मात्र एक बहिरंग व्यापार है। अन्तरमें तो आप श्रीकृष्णमय ही हैं। विरहके इस बाह्य प्रकाशका भी मुझे एकके अतिरिक्त कोई अन्य कारण खोजनेपर भी नहीं मिला। बहुत सोच-विचारकर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि यह विरह केवल मुझ-सरीखे जीवाधमोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही है—'**विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः**' (श्रीमद्भा० १०। ४७। २७)।

'प्रेम एक महाशक्तिशाली वस्तु है'—यह सुना भी था और विश्वास भी किया था; किंतु कदापि एवं कुत्रापि प्रेमकी ऐसी महामहिमाका चाक्षुष साक्षात्कार अन्यत्र नहीं हुआ। जगत्‌में और किसीको हुआ हो, यह भी अविदित है। यदि आपलोगोंको विरह नहीं होता तो परम देवता श्रीकृष्ण मुझे आपलोगोंके पास नहीं भेजते और व्रजमें आनेका यह परम सौभाग्य नहीं मिलता तो मैं महाभाव-समुद्रके इस आश्चर्यमय रस-तरंगका दर्शन कर कृतार्थ भी नहीं हो पाता। इस व्रजमें आकर महाभाववती आपलोगोंके दर्शन एवं आपलोगोंकी वेदनार्तिमय निरुपम उक्तिके श्रवणको मैं अपने परमातिपरम सौभाग्यकी परमावधि मानता हूँ। आपलोगोंने जो प्रश्न किया था कि 'इस निरुपाधि प्रेममें विरह आया ही क्यों?' उसका उत्तर यही है कि 'इस जीवाधम उद्धवपर अनुग्रह करनेके लिये, उसके अधन्य जीवनको धन्यतम बनानेके लिये ही यह प्रकट हुआ है।'

इस प्रकार उद्धवजी व्रजांगनाओंके महाभावकी महती महिमाका कीर्तन करने लगे; किंतु व्रजांगनाएँ इससे तिलमात्र भी सुखी होनेकी अपेक्षा और अधिक विषण्ण हो गयीं। वे मन-ही-मन कहने लगीं— 'उद्धव! तुम भी कैसे मनुष्य हो? जो वेदनासे

व्याकुल हो रहा हो, उसका गुणगान करनेसे क्या कभी उसकी व्यथाका उपशम हो सकता है? इस समय हम श्यामके विरहमें व्याकुल होकर मृत्युके द्वारपर खड़ी हैं। ऐसे समय तुम हमारे भावकी प्रशंसाके पुल बाँध रहे हो? जिनके समान हतभागिनी सारे विश्वमें खोजे नहीं मिलेंगी, तुम उन्हींकी भाव-महिमाके गुणगान कर रहे हो? क्या तुम इसी प्रशंसासूचक चाटुकारिताद्वारा हमें सान्त्वना देने-हेतु व्रजमें आये हो? क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि जिसका कण्ठ निदारुण पिपासा-हेतु सूखा जा रहा हो, उसके कष्टकी निवृत्ति एकमात्र पानीय वस्तुद्वारा ही की जा सकती है? यदि तुम प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका हमारे लिये कोई संदेश लाये हो तो हमें वही सुनाओ, व्यर्थके प्रशंसा-वचनोंद्वारा हमारी विरहाग्निमें घृताहुति तो मत डालो।'

गोपियोंके हृदयकी बात उनकी भावभंगी एवं मुख-श्रीपर प्रस्फुटित होकर स्पष्ट झलक रही थी। उद्धवजी अपनी भूल समझकर बोले—'आप अपने प्रियतम श्रीकृष्णका संदेश श्रवण करें'—(**श्रूयतां प्रियसंदेशः**) (श्रीमद्भा० १०। ४७। २८)। व्रजांगनाएँ बोलीं—'उद्धवजी! हमें उनके संदेश सुननेसे कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो वही बताओ जिससे हम शीघ्र उन्हें पा सकें।' उद्धवजी बोले—'मैं अभी परम उत्कण्ठिता आपलोगोंके समक्ष अतिशीघ्र श्रीकृष्ण-प्राप्तिका सुखावह संदेश (**भवतीनां सुखावहः**) (श्रीमद्भा० १०। ४७। २८) परिवेशन करूँगा, आप श्रवण करें।' यह कहकर उद्धवजी व्रजांगनाओंको श्रीकृष्णका संदेश सुनाने लगे।

प्रेमकी सर्वात्मकता

उद्धवजीने '**श्रीभगवानुवाच**' कहकर संदेशकी प्रथम सूचना दी। ऐसा करनेमें उनका आन्तरिक आशय था कि गोपियो! मैं आपलोगोंके समक्ष श्रीकृष्णके संदेश-वचनको अक्षरशः ही निवेदन करूँगा। उन्होंने जैसा कहा था ठीक वैसा ही सुना दूँगा (**तदक्षरेणैव**)। यदि मैं उनके वचनोंका भाव ग्रहण कर पाता तो उनकी भाषामें थोड़ा-बहुत हेर-फेर करनेपर भी सम्भवतः चल जाता, किंतु जिस वाणीके भावको ग्रहण करनेमें मैं सम्पूर्णरूपसे अक्षम रहा हूँ, उसके शब्द बदलनेका दुःसाहस मुझमें नहीं है। मैं उनका संदेश वहन करके लाया अवश्य हूँ, फिर भी जिस प्रकार पत्रवाहक केवल पत्रका शिरोनामा ही देखता है, उसी प्रकार मैंने तो इस संदेशको केवल बाहरसे देखा है, भीतरमें क्या तात्पर्य है यह वक्ता जाने या फिर सम्भवतः आपलोग उसका तात्पर्य समझ सकें। (**नाहं विवेक्तुं शक्नोमि, किंतु भवत्य एव विचारयन्त्विति**—श्रीसनातन)।

श्रीकृष्णकी प्रथम वाणी—आपको प्रेषित इस संदेशका प्रथम वाक्य है—

'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।'

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २९)

श्रीहरिकी उक्ति अत्यन्त संक्षेपमें है, केवल एक बात कही है—'सर्वात्मक मेरे साथ आपलोगोंका कभी कोई विरह नहीं हो सकता।' किंतु इतनी-सी बातका तात्पर्य अत्यन्त गम्भीर है।

उद्धवजी श्रीकृष्णकी संवित्-शक्तिकी मूर्ति हैं—ज्ञानप्रधान हैं।

उन्होंने श्रीकृष्णके वाक्यका ज्ञानपरक अर्थ समझा है। गोपांगनाएँ श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-शक्तिकी मूर्ति हैं—प्रेम-प्रधान हैं। उन्होंने प्राणप्रियकी वाणीका रस-प्रधान अर्थ लिया है। वक्ता श्रीकृष्ण स्वयं नित्यकाल जिस शक्तिद्वारा नित्यलीलामें स्थित रहते हैं, उसे सच्छक्ति या संधिनी-शक्ति कहते हैं। उन्होंने इसे संधिनी-प्रधान नित्यलीलापरक अर्थमें व्यवहार किया है।

वाक्यके तीन प्रकारके अर्थ होते हैं। श्रीकृष्णके अन्तरमें जो अर्थ है, वह सत्प्राधान्यद्वारा संधिनी-सेवित है। उद्धवजीने जो अर्थ ग्रहण किया है, वह चित्प्राधान्यसे संवित्सेवित है। व्रजांगनाओंने जो अर्थ ग्रहण किया है, वह आनन्द-प्राधान्यसे ह्लादिनी-सेवित है। प्रथमतः हम तीनों अर्थोंका ही संक्षेपमें अनुध्यान करेंगे, फिर व्रजांगनाओंद्वारा गृहीत अर्थका ही अनुसरण करेंगे। तीनों प्रकारके अर्थोंके आलोचना-प्रसंगमें प्रथम उद्धव-गृहीत अर्थ, पश्चात् गोपीभावित अर्थ और तदनन्तर श्रीकृष्ण-प्रेषित अर्थका आस्वादन करेंगे। श्रीशुकदेवजीकी कृपा बिना इसमें प्रवेश करनेका कोई उपाय नहीं है।

श्रीकृष्णने कहा—'सर्वात्मक मेरे साथ आपलोगोंका कोई वियोग नहीं हो सकता।' इस बातमें उद्धवजीने समझा है कि श्रीकृष्ण ही सर्वात्मा हैं। उपादानरूपसे और अन्तर्यामीरूपसे वे सम्पूर्ण विश्वकी सर्ववस्तुओंमें तथा सर्वप्राणियोंमें अनुस्यूत हैं। अतएव वे गोपियोंके मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सभीमें आश्रयरूपसे चिरविराजमान हैं। फलस्वरूप श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका क्षणभरके लिये भी विरह नहीं हो सकता। दृष्टान्त देकर बताया है कि जिस प्रकार आकाश पृथिवीके प्रत्येक अणु-परमाणुमें अन्तर्भूतरूपसे विद्यमान है, उसी प्रकार वे भी सबकी आत्मामें अनुप्रविष्ट हैं। 'सब आत्माओंकी आत्मा हैं' कहकर

श्रीकृष्ण सर्वात्मक हैं। अतएव उनके साथ किसीका वियोग होनेकी सम्भावना ही नहीं है। सर्वदा सभी वस्तुओंके साथ उनका योग बना ही हुआ है। जहाँ वियोग ही नहीं हो तो फिर विरहकी सम्भावना कहाँसे पैदा हो? उद्धवजीने 'सर्व' का अर्थ समझा है—'विश्वमें जो कुछ है वह सब' और आत्मा-पदसे अर्थ समझा है—परमात्मा। उद्धवजीने सही ही समझा है। ज्ञानमतसे परमात्माके साथ किसीका भी विरह हो ही नहीं सकता।

अब देखें गोपियोंने श्रीकृष्णके इस वाक्यका क्या अर्थ लिया है। '**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।**' मेरे साथ तुम्हारा कभी सर्वात्मक वियोग नहीं होता। जो वियोग कभी होता है, वह केवल आंशिक है। कारण, तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र मैं निरन्तर स्फूर्त हो रहा हूँ। किसी भी समय तुम्हारी मनोवृत्तियाँ मुझे छोड़कर नहीं रहतीं। मैं तुमलोगोंसे दूर हूँ केवल देहके द्वारा; मन, प्राण, बुद्धिद्वारा तो तुम्हारे साथ युक्त ही हूँ। अधिकं तु, देहद्वारा भी कभी-कभी तुम्हारे साथ युक्त होता ही हूँ।

तुमलोग जिसे मात्र स्फूर्ति समझती हो, वस्तुतः वह मेरे साथ साक्षात्कार ही है। तुमलोग जब विरहमें मूर्च्छित होकर पड़ जाती हो तब मैं स्वयं आकर आदर-यत्न एवं अनुग्रहादि प्रदान कर तुम्हें सुखसमुद्रमें डुबोकर तुम्हारी मूर्च्छा भंग करता हूँ, किंतु जब तुम जागती हो, तब मेरे दर्शनको केवल स्वप्न ही समझ बैठती हो। वस्तुतः वह स्वप्न नहीं है, मेरा प्रत्यक्ष आगमन ही है। जिस प्रकार आकाश सर्वभूतोंमें अनुस्यूत है, उसी प्रकार मैं कृष्ण भी तुम्हारे मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों आदिका आश्रय हूँ। तुम्हारे मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ और गुणसमूह सभी तो कृष्णमय हैं। जिस प्रकार आकाश वस्तुके भीतर और बाहर व्याप्त है, उसी प्रकार

मैं भी तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र सर्वदा तुम्हें घेरे हुए हूँ। अतएव विरह कहाँ है?' गोपियोंने 'सर्व' पदका अर्थ लिया है भीतर-बाहर सर्वत्र और 'आत्मा' पदका अर्थ लिया है देह। उद्धवजीकी भावनासे '**सर्वात्मना**' शब्द श्रीकृष्णका विशेषण है, गोपियोंकी भावनासे वही शब्द वियोगका विशेषण है। पहलेका अर्थ हुआ—'सर्वात्मक मेरे साथ तुम्हारा वियोग नहीं।' दूसरे प्रकारसे अर्थ हुआ—'मेरे साथ तुम्हारा सर्वात्मक वियोग नहीं होता, आंशिक वियोगमात्र होता है।'

केवल इस देहके साथ तुम्हारा सामयिक अमिलन होता है। विरहकी मध्यस्थतासे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरण-सुषुप्ति-अवस्थामें तुम्हारे साथ मिलन ही विद्यमान रहता है। विरहकी सामर्थ्य ही ऐसी है कि प्रियको जगन्मय दर्शन कराता है—'**त्रिभुवनमपि तन्मयम्**'। 'विरहजन्य मिलनानन्द-सम्भोगको गम्भीररूपसे आस्वादन करानेका उपाय एकमात्र विरह ही है। प्रियतमके विरहमें जिस प्रकार गम्भीर-रूपसे आनन्दका आस्वादन किया जाता है, वैसा मिलनमें नहीं हो पाता। मिलन सर्वदा ही भंगकी आशंकाजनित चांचल्यके आवरणसे आवृत रहता है। विरह सतत भंग-आशंका-आवरणसे मुक्त रहता है एवं स्वच्छन्दभोगके प्रकाशसे समुज्ज्वल रहता है।

सम्भोगमें भोग होता है। विप्रलम्भमें भोगकी वृद्धि होती है। 'वि' का अर्थ है विशेषरूपसे भोग और 'रह' का अर्थ है नित्य-स्थिति। इसीलिये श्रीकृष्णने गोपियोंसे कहा है—'तुमलोगोंके साथ मेरा वियोग नहीं होता। विरहके माध्यमसे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरणमें मिलन ही विद्यमान रहता है।' ह्लादिनी-शक्ति व्रजांगनाओंने स्वकीय प्रेमानुभवसिद्ध यह रस-प्रधान अर्थ ही ग्रहण किया है।

श्रीकृष्णने यह बात किस तात्पर्यको ध्यानमें रखकर कही थी, अब हम उसपर विचार करेंगे। उनका तात्पर्य है—गोपियो! तुमलोगोंके साथ मेरा वियोग सर्वतोभावसे नहीं है। केवल इस प्रपंचमय प्रकटलीलामें हमारा विरह है। अप्रकट नित्य-लीलामें तो नित्यकाल नित्यमिलन ही रहता है। जिस प्रकार आकाश वस्तुमें छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारी विरहावस्थामें जहाँ तुमलोग विलाप कर रही होती हो, वहींपर तुमलोगोंके संग अप्रकट लीला-विलासमें सर्वदा विभोर रहता हूँ। नित्यवृन्दावनमें मैं नित्यकाल नित्यमिलनमें ही स्थित रहता हूँ। केवल इस भौमवृन्दावनमें ही तुमलोगोंके साथ मेरा विरह होता है। नित्यलीलामें मैं किस रूपमें स्थित रहता हूँ, वह भी सुन लो। तुम्हारे मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं गुणसमूहका एकान्त आश्रय है मेरा 'गोपवेश वेणुकर नव-किशोर नटवर-रूप।' अतः अप्रकट नित्य-लीलामें मैं तुमलोगोंके संग नित्य उस वेणुविलासी श्यामसुन्दररूपमें ही विलास करता हूँ। (**भवतीनां मन आद्याश्रयाकारः श्यामसुन्दरो वेणुविलासरूप एव सन्**—श्रीसनातन)।

सुतरां 'सर्वात्मा' द्वारा विरह सूचित ही नहीं होता। 'सर्व' पदका तात्पर्य है 'प्रकट एवं अप्रकट'। 'आत्मा' पदका अर्थ है 'लीला'। प्रकट एवं अप्रकट दोनों अवस्थाओंमें ही मेरा तुम्हारे साथ विरह नहीं होता। अप्रकट नित्यविहारकालमें नित्ययोग सर्वकाल ही रहता है। 'सर्वात्मक' शब्द श्रीकृष्णके साथ अन्वित करनेपर अर्थ होगा 'प्रेमानुभवसिद्धि।' अतः 'न' के साथ अन्वय करके अर्थ हो जायगा 'नित्यलीलापरक'।

इसके बाद उद्धवजीने श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उच्चरित और भी कई श्लोक कहे हैं। प्रत्येकके इसी प्रकार तीन प्रकारके अर्थ हैं।

ह्लादिनी-शक्तिरूपिणी व्रजबालाओंने उन श्लोकोंका जो अर्थ अनुभव करके ग्रहण किया है, अब हम केवल उसी अर्थका अनुसरण करेंगे।

प्राणप्रियतमकी वाणी सुनकर गोपियाँ कह रही हैं—'यह बात सत्य है कि तुम हमारे मन-प्राणोंमें स्फूर्त होते हो, किंतु जिस प्रकार तुम हमारे पास स्फूर्त होते हो उस प्रकार हम तो तुम्हारे पास स्फूर्त नहीं होतीं (**सत्यमस्मासु तथैव त्वं स्फुरसि त्वयि तु न वयम्**—श्रीसनातन)। जैसे तुम हमारी बुद्धि एवं इन्द्रियोंको आश्रय करके सतत प्रकाशित होते हो, क्या हम भी उसी प्रकार तुम्हारे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयरूपसे प्रकाशित होती हैं?

और भी एक बात है—'साधारणतः हम स्फूर्ति, स्वप्न, स्वाप्निक अवस्था-व्यतिरिक्त अन्य अवस्थाके मिलनको ही मिलन नाम दिया करती हैं। स्वप्नके दर्शनको हम वियोग ही कहेंगी।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—'व्रजांगनाओ! मैं अपनी देहसे तो तुमलोगोंसे बहुत दूर मथुरामें अवश्य आ गया हूँ, किंतु यहाँ रहते हुए भी मैं अपनी आत्मामें आत्मा अर्थात् मनद्वारा तुम्हारे संग संयोग-विलासका सृजन करता हूँ। केवल सृजन ही नहीं करता, अपितु उसका सम्यक्-रूपसे संवर्धन भी करता हूँ (**संवर्धयामि**), लीलाको भावनाद्वारा पुष्ट करके उसका भोग करता हूँ। तदनन्तर विलास-समाप्तिपर नव-आस्वादन-हेतु उसका त्याग करके पुनः नवीन संकल्पकी सृष्टि करता हूँ। यदि पूछो कि मनद्वारा विलास-सृष्टि किस प्रकार करते हो? तो सुनो, बताता हूँ। मेरे प्रति तुमलोगोंकी जो असीम कृपा है, उसके प्रभावसे मेरे मन, बुद्धि, गुणसमूह सब तुम्हारे भावसे भावित हो जाया करते हैं। मैं उन भाव-भावित चक्षु-प्रभृति इन्द्रियोंद्वारा तुमलोगोंके रूपका साक्षात्कार करता हूँ।

नासिकाद्वारा तुम्हारी अंग-गन्ध मिलती है, त्वचासे तुम्हारे स्पर्शका अनुभव होता है, सर्वदेहसे तुम्हारा आलिंगन आदि करके मैं आनन्द-रससमुद्रमें डूबा रहता हूँ। अतएव जिस प्रकार तुमलोग मेरे रूप आदिका निरन्तर अनुभव करती रहती हो, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे रूप आदिका अनुभव करता रहता हूँ, (**ध्यानेन प्राप्नोमि**)। जैसे तुमलोगोंके महाभाववासित मन-प्राण मत्तादात्म्य प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मेरे इन्द्रियवर्ग भी तुम्हारे संग महाभाव-तादात्म्य प्राप्त हो जाते हैं। अतएव इस बाह्य विरहपर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये (**किमनया बहिर्योगदुःखमयभावनयेति**—श्रीसनातन)।

गोपियाँ बोलीं—'प्राणवल्लभ! तुम्हारी स्फूर्ति हमें सचमुच ही साक्षात्कार-सदृश ही प्रतीत होती है, किंतु वह सब समय तो होती नहीं। जब हम नेत्र बंद किये रहती हैं, तब स्फूर्ति होती है, किंतु पुनः ज्यों ही नेत्र खोलकर बाहरकी ओर दृष्टि करती हैं, त्यों ही वियोगकी वेदनासे पुनः अवसन्न हो जाती हैं। इस विपद्से रक्षा पानेका भी कोई उपाय है क्या?

इस प्रकारकी जिज्ञासाका श्यामसुन्दर इस प्रकार उत्तर देने लगे—मैं आविर्भूत होकर जब तुमलोगोंके साथ दर्शन और लीला इत्यादि किया करता हूँ, उस समय तुमलोग मूर्च्छित हो जाती हो। बादमें मूर्च्छाभंग होनेपर जब उत्थित होती हो, तब इस सारी घटनाको स्वप्न मान बैठती हो (**ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः**—श्रीमद्भा० १०। ४७। ३२)। तुम्हारा जो मन मेरे इस सत्यमिलनको भी स्वप्न मानकर भावना करता है, उसे निरोध कर सकनेसे ही यह विरह-वेदना विदूरित हो सकती है—(**तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि**—श्रीमद्भा० १०। ४७। ३२)।

प्रेम-विवर्धन-परायणता

गोपियाँ विरह-तापसे दग्ध हो रही हैं। श्रीकृष्णने संदेशद्वारा कहलवा दिया कि 'तुमलोगोंके साथ मेरा वियोग नहीं है।' विचारकी अपेक्षा अनुभवका मूल्य सहस्रगुणा अधिक होता है। उधर तो हृदय विरह-वेदनाकी अनुभूतिसे पूर्ण है, इधर विचारमूलक भाषाद्वारा समझा दिया गया कि वियोग कहीं नहीं है, किंतु प्राण इस कोरी विचारमूलक भाषासे तो शीतल नहीं होते।

विरहकालमें स्फूर्तिद्वारा साक्षात्कार होता है—ऐसा लगता है, किंतु इसीलिये क्या यह कहा जा सकता है कि विरह है ही नहीं? हे प्राणवल्लभ! तुम दूर हो यह बात तथ्य है। इसीलिये तो यह वेदना है। हम केवल इतना ही जानना चाहती हैं कि 'दूर क्यों हो और कब यहाँ आओगे?' इसीके उत्तरमें कह रहे हैं—

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३४)

मैं दूर हूँ, यह सत्य ही है। क्यों दूर हूँ, इसीका कारण बता रहा हूँ। कंसका वध एवं वसुदेव-देवकी-उग्रसेनको मुक्त करना—यह था अवश्यकर्तव्य। इसी कर्तव्यबोध-हेतु ही मैं व्रजसे मथुरा आया। कंस-वधके पश्चात् भी बहुत-से दायित्व मेरे सिरपर आ पड़े हैं, किंतु उन्हें त्यागकर कुछ दिनोंके लिये भी मैं व्रजमें न आ सकूँ, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भी मैं जो तुमलोगोंकी आँखोंसे ओझल रह रहा हूँ, इसका कारण है मेरा स्वभाव। इस स्वभावका नाम है 'स्वजन-प्रेम-

विवर्धनपरायणता।' प्रेमविवर्धनका यह स्वभाव मुझे भी दुःख देता है, मेरे प्रियजनोंको भी दुःख ही देता है। इस दैहिक विरहका यही कारण है।

मथुरामें तो बस हूँ मात्र। मन सुखी है, ऐसी बात नहीं है (**केवलं वर्ते न तु सुखेनास्मीति**), सुखका तो केवल बाहरी दिखावामात्र है। व्रज-अवस्थानके समय तुमलोग जब अपना निर्मल देह-मन मुझे अर्पण करती थीं तो मुझे असीम आनन्द मिलता था, किंतु मुझे अत्यन्त लज्जा भी आती थी (**चेतसि सदैव लज्जा जायत इति**); क्योंकि तुम्हारे देह-मनमें तो लेशमात्र भी स्वसुखवाञ्छा नहीं है और मेरे देह-मनमें वह पूर्णमात्रामें विद्यमान है। तुमलोगोंका मन तो एकनिष्ठ है, मेरा मन तुम अनेक जनोंमें बहुनिष्ठ है। तुम्हारी प्रीति अव्यभिचारी है, जबकि मेरी प्रीति व्यभिचारी है। अतएव मिलनकालमें जब तुम्हारी ओर दृष्टि करता तो मेरे मनमें तीव्र लज्जाका अनुभव होता। मेरे जरा-से अदर्शनसे तुम्हें एक-एक क्षण सैकड़ों युगों-सरीखा लगता था। यह प्रत्यक्ष देखकर मेरे मनमें भी लालसा होती कि तुम्हारे प्रति मेरे मनमें भी इस प्रकारका आकुलताभरा गाढ़ आवेगपूर्ण अनुराग किसी प्रकार उत्पन्न हो। वृन्दावन-अवस्थानकालमें उस प्रकारके ध्यानकी सुविधा या सुयोग मुझे बिलकुल नहीं प्राप्त होता था। जबतक तुम्हारे साथ मिलन होता, तबतक तो मिलनके परमानन्दमें मैं डूबा रहता; किंतु जब तुमलोगोंसे विरह हो जाता, तब पहुँच जाता सखाओंकी मण्डलीमें या जननियोंके स्नेह-अंकमें। वहाँ सख्य-वात्सल्यरस-सागरमें आकण्ठ डूबा रहता। अतएव तुम्हारा ध्यान करनेका न तो मुझे समय मिलता न स्थान मिलता।

अब मैं अपनी देह लेकर दूरदेश मथुरामें आ गया हूँ। अब

तुम्हारा ध्यान करनेके लिये मेरे पास प्रचुर स्थान एवं समय है। **'मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया'—मदनुध्यानम्—मत्कर्तृकं यदनुध्यानं तत्काम्यया तद्धेतोरेव।**

तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता रहे—इसी कामनासे मैं मथुरामें रह रहा हूँ। देहकी निकटवर्तिता न रहनेके कारण मुझे मनकी संनिकर्षता प्राप्त हो रही है। (**दृक्समीपवर्तित्वे मनोदूरवर्तित्वं मनःसमीपवर्तित्वे दृगदूरवर्तित्वमासक्तिविषयीभूतस्य वस्तुनो भवति**—श्रीविश्वनाथ)। मथुरामें मेरी तुमलोगोंके निरन्तर अनुध्यानकी कामना पूर्ण हो रही है। मथुरावासी भक्त भी मुझसे प्रेम करते हैं, किंतु उनका प्रेम ऐश्वर्यपूर्ण होनेके कारण उसमें मेरे मनका पूर्ण आवेग नहीं रहता। अतएव यहाँ अनासक्त मनसे तुम्हारे ध्यानकी पूर्ण सुविधा मुझे प्राप्त हो रही है।

पण्डितजन कहते हैं—विरह-व्यतीत सम्भोगरस पुष्ट नहीं होता—'**न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते**'। जबतक प्रियजन समीप रहते हैं, तबतक चक्षु-कर्णादिके साथ उनके रूप-शब्दादिका सांनिध्य तो अवश्य होता है; किंतु मनका सांनिध्य नहीं हो पाता। चक्षु रूपके समीप रहता है, किंतु मन रहता है चक्षुकी ओटमें। अतएव रूपके साथ चक्षुका ही साक्षात् सम्बन्ध होता है; मनका तो केवल परोक्ष सम्बन्ध होता है। पक्षान्तरमें जब प्रिय दूर होता है, तब चक्षु आदि इन्द्रियोंको विरह घटित होता है; किंतु मनके साथ रूप आदिका अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीलिये '**मनसः सन्निकर्षार्थम्**'—मैं अपनी इच्छासे ही तुम्हारा सांनिध्य त्यागकर मथुरामें निवास कर रहा हूँ। यहाँ मैं तुम्हारी ध्यान-साधनामें अविराम आविष्ट हूँ। '**मदनुध्यानकाम्यया**'—मेरे द्वारा तुम्हारे अनुध्यानकी निगूढ़ कामना ही मथुरामें सार्थकताको प्राप्त हो रही है।

इस बातके उत्तरमें गोपियाँ कह सकती हैं—हमारे प्रति तुम्हारे अनुरागमें वृद्धि हो रही है, इससे हमें क्या लाभ है? (**भवतु नाम भवतो भावसिद्धिस्तत्रास्माकं किम्?**) हम तो प्रतिदानमें तुम्हारे प्रेमकी कामना करके तुमसे प्रेम नहीं करती हैं? हम तो तुमसे प्रेम करके ही सुखी हैं, उसके विनिमयमें तुम्हारे प्रेमकी बिलकुल कामना नहीं करतीं। अतएव हमारे प्रति तुम्हारे प्रेमके विवर्धित होनेसे हमें तो कोई लाभ नहीं है। तुम्हारे विरह-दुःखमें हम जो इस प्रकार दग्धीभूत हो रही हैं, उसके लिये कोई प्रतिकारमूलक निर्देश तुम्हारे इस संदेशमें हमें कहीं खोजे नहीं मिला।

गोपियोंद्वारा इस प्रकारके उत्तरकी आशंकासे श्यामसुन्दर कह रहे हैं—

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३५)

इस विरहद्वारा मेरे प्रति तुम्हारे प्रेममें भी वृद्धि होगी। प्रियजन दूर-विदेशमें हों तो नारियोंका मन उनमें जिस प्रकार आविष्ट होता है, वैसी आविष्टता उनके चक्षुगोचर होनेपर नहीं हुआ करती। जब जागतिक साधारण रमणीके सम्बन्धमें भी यह बात घटित होती है, तब तुमलोगों-सरीखी महाभावमयी देवियोंके सम्बन्धमें तो यह बात कितनी अधिक सत्य है, यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है (**स्त्रीणामन्यासामपि किमुत भवतीनाम्**)। अतएव परस्पर प्रेमविवर्धन-परायणतारूप जो मेरा अत्याग्रहविशिष्ट स्वभाव है, वही इस तीव्र विरहका मूल हेतु है। मेरे इस स्वभावको सहन करके तुमलोग मुझे क्षमा करना (**मिथः प्रेमविवर्धनाभिलाषजो दुर्निग्रहोऽयं मम दुराग्रहो भवतीभिः क्षन्तव्य इति भावः**—श्रीसनातन)।

यदि गोपियाँ पूछ बैठें कि क्षमा माँगकर क्षतस्थानपर नमक छिड़कनेकी क्या आवश्यकता है? हमें तो केवल यही बता दो कि क्या करनेसे यह विरह-वेदना दूर होगी? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३६)

यदि मुझे प्राप्त करनेके लिये तुम्हारे आग्रहमें प्रबलता आ जाय तो प्रेमविवर्धनका मेरा यह दुराग्रह भी दूर हो सकता है। गोपियोंके आग्रहकी प्रबलता फिर किस प्रकार प्रकटित हो सकती है, वही बता रहे हैं—

तुमलोग अपने मनको अनन्त विषय-वृत्तियोंसे निरुद्ध करके मुझमें ही निविष्ट करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण करो। इससे तुमलोग मुझे अविलम्ब प्राप्त हो जाओगी। मेरे इस तमाल-श्यामलकान्ति व्रजसुन्दर यशोदानन्दन नित्यस्वरूपमें ही अपने चित्तको निविष्ट करना। मेरे अतिरिक्त चित्तकी जो असंख्य नाना प्रकारकी वृत्तियाँ हैं, उन सबको सदा-सदाके लिये दूर कर देना, किंतु इस विषयमें मैं बिलकुल स्वाधीन नहीं हूँ (**न तु ममात्र स्वातन्त्र्यमिति भावः**)। इस प्रकार निविष्टचित्त होकर मेरे नित्यरूपका ध्यान करनेका ऐसा ही अपरिसीम प्रभाव है कि फिर ध्यानकर्ताके संनिधानमें न जानेका मेरे पास कोई बहाना नहीं बचता। मुझमें निविष्ट भक्तका अनुरागमय ध्यान मुझे बलपूर्वक अपने संनिधानमें खींच ले जाता है। इस बार तुमलोग जब मुझे प्राप्त करोगी, तब वह होगा नित्यकालके लिये। फिर मैं अपने प्रेम-विवर्धन दुराग्रहद्वारा भी अपनी देहको तुमलोगोंके सांनिध्यसे हटा नहीं सकूँगा।

अनन्यमन होकर सुतीव्रभावसे मेरा ध्यान करनेसे मेरी निश्चित प्राप्ति होती है, इसका प्रसिद्ध प्रमाण भी मैं तुम्हें स्मरण कराये देता हूँ—

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३७)

उस महारास-रात्रिमें मैंने मुरली बजाकर तुमलोगोंको बुलाया था, वह निश्चय ही स्मरण होगा। उस दिन तुमलोग दौड़ती चली आयीं, किंतु गृहमें अवरुद्ध हो जानेके कारण जो नहीं आ सकीं, उन्हें कौन-सी गति प्राप्त हुई थी, यह जानती हो? बाधा पाकर उनका मद्विषयक ध्यान गम्भीरतर हो उठा। ध्यानके प्रभावसे उनका गुणमय देहबन्धन कट गया। वे गुणातीत देहसे मेरे अप्रकट नित्यलीलाधाम श्रीवृन्दावनमें मुझसे मिलीं और मेरे निविड आलिंगनपाशमें बद्ध होकर परमानन्द-सिन्धुमें निमज्जित हो गयीं।

सुनो कल्याणियो! गृहावरुद्धा गोपियोंने तो अपनी गुणमय देह त्यागकर मेरी प्राप्ति की थी, किंतु तुमलोग तो इसी देहसे मुझे प्राप्त कर लोगी। कारण, तुम्हारी यह देह तो गुणातीत चिद्घन महाभावमय ही है। उन्होंने तो अप्रकट-प्रकाश व्रजमें मुझे प्राप्त किया था; किंतु तुमलोग तो प्रकट-प्रकाश इसी वृन्दावनमें साक्षात्-रूपसे मुझे ही प्राप्त कर लोगी। (**कल्याण्य इति सम्बोध्य भवत्यस्तु साक्षादेव प्राप्स्यन्ति न तु जहुर्गुणमयं देहमिति रीत्येति व्यञ्जितम्**)।

कृष्ण-प्रीतिकी सुगभीरता

श्रीमान् उद्धवके मुखसे गोपियोंने प्रियतमका परम संदेश सुना। इससे उनके मर्मान्तिक-वेदना-सरोवरके वक्षःस्थलपर मानो प्रीतिरसका पद्म खिल उठा। प्रियतमकी वाणी सुनकर उनके मनमें अतीत दिनोंकी कितनी ही सुप्त मधुर स्मृतियाँ एकाएक जाग उठीं (**तत्संदेशागतस्मृतीः**)।

उन्हें याद आयी रास-रजनीकी बात, उस दिन जो गोपियाँ रासमें सम्मिलित नहीं हो सकी थीं उनकी बात, जो गोपियाँ गृहोंमें अवरुद्ध होकर तीव्र विरहके तापसे दग्धीभूत हो गयी थीं उनकी बात। उन गोपियोंको घरमें रहते हुए ही ध्यानयोगके द्वारा श्रीकृष्णालिंगन प्राप्त हो गया था। उसके फलस्वरूप वे अपने गुणमय देहबन्धनसे मुक्त हो गयी थीं। उस दिन उन्होंने गुणातीत देहसे श्रीकृष्णको प्राप्त कर लिया था। उस रात्रिकी सारी स्मृतियाँ उनके मनमें जाग उठीं।

उनके हृदयमें अब यह विश्वास जम गया कि ध्यानसे भी श्रीकृष्ण-प्राप्ति हो सकती है और वही प्राप्ति सार्थक है। विरहावस्थामें प्रेमद्वारा प्रियतमका जो साक्षात्कार होता है वह मात्र स्फूर्ति नहीं है, भ्रान्ति नहीं है, प्रत्युत प्रकृत-प्राप्ति है—प्रियतमके संदेशसे इस बातपर पूर्ण विश्वास हो गया। निज-निज स्मृतिसागरका मन्थन कर एक सखी दूसरी सखीसे कहने लगी—'मैं उस दिन सुध-बुध खोकर पड़ी थी, प्रबल मूर्च्छामें मुझे ऐसा लगा मानो प्राणनाथ आये हैं। वही हास्य, वही लास्य, वही दृष्टि, वही स्निग्ध स्पर्श और वही आदर-यत्न। उनके प्रत्येक अंगसे वही विलास-विचित्रता टपक रही थी, मैं डूब गयी सुखसमुद्रमें। जब मूर्च्छा भंग हुई तब लगा

मानो स्वप्न देखकर उठी हूँ, किंतु स्पर्शकी सुखानुभूति, अंगोंकी मादक गन्ध, लीला-विलासके सभी चिह्न अत्यन्त स्पष्टरूपसे वर्तमान थे। फिर भी सोचा कि सम्भवतः स्वप्न ही देखा है। आज प्रियके संदेशसे समझमें आया कि वह स्वप्न नहीं था, वे सचमुच ही आते हैं।'

प्रियके संदेशकी दो विशेष बातोंने व्रजांगनाओंके हृदयमें आनन्दकी पुलक-सृष्टि कर दी है। प्रथमतः प्रिय इच्छा करें तो व्रजमें आ सकते हैं, किंतु इसलिये नहीं आ रहे हैं जिससे हमारा ध्यान प्रगाढ़तर होता रहे। द्वितीयतः ध्यानावेश प्रगाढ़ होते ही प्राणप्रियतमकी नित्य-प्राप्ति हो जायगी। गोपियोंके हृदयके तीव्र विरहजन्य दुःखकी शुष्क-मरुभूमिमें मानो ये दो बातें पान्थपादपकी स्निग्ध छाया-सदृश थीं।

वे सब मिलकर उद्धवजीसे कहने लगीं—'सुनो उद्धव! तुम हमें भूल मत समझ बैठना। इस विरह-दुःखकी स्थितिमें उन्हें पाकर ही हम सुखी हो जायँगी, यह बात पूर्ण सत्य नहीं है। उन्हें पाकर हम सुखी हों, हमारे लिये इसकी अपेक्षा कोटिगुणा मूल्यवान् संवाद होगा कि वे सुखी हैं। हमलोग अपने निज-सुखार्थ बिन्दुमात्र भी व्याकुल नहीं हैं। उनके चिर-सुखमें ही हमारा महामंगल है।' इस प्रकार कहकर वे श्रीकृष्ण-सुखका अभिनन्दन करने लगीं। वे पुनः बोलीं—'उद्धव! अत्यन्त आनन्दकी बात है कि दुष्ट कंस मारा गया (**दिष्ट्याहितो हतः कंसः**)। यादवगण साधु-शिरोमणि हैं। दुराचारी कंसने उनके ऊपर कितने नृशंस अत्याचार किये। जो व्यक्ति सज्जनका द्रोह करता है, उसका स्वकृत अपराध ही उसे मार देता है। कंस भी अपने पापोंके कारण ही मरा है, श्रीकृष्ण तो निमित्तमात्र बने हैं।

इससे भी अधिक आनन्दकी बात यह है कि कंसके भयसे जो यादव देश-विदेशमें पलायनकर छिपे हुए रह रहे थे, वे सभी कंसवधका संवाद पाकर लौट आये हैं। लौटकर उन्हें उनकी परित्यक्त सम्पत्ति पुनः प्राप्त हो गयी है (**दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः**)। अपने आत्मीय स्वजनोंके सुख-स्वच्छन्दता-विधानहेतु अब श्रीकृष्णको उद्विग्न नहीं होना पड़ता। वे स्वयं अत्यन्त कुशल हैं। इसीलिये उन्होंने अत्यल्पकालमें राज्यको सर्वसुखपूर्ण एवं शान्तिमय बना दिया है। जब श्रीकृष्णचन्द्र हमारे साथ व्रजमें थे, तब भी कंस-प्रेरित दैत्योंके दौरात्म्यहेतु उन्हें कितना उद्वेग सहना पड़ा था। अब तो वह भय भी मिट गया। हमारे लिये तो यह संवाद ही परम सुखद है।

मथुरासे लौटते हुए नन्दबाबासे नन्दनन्दनने कहा था—'**ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्**' (१०।४५।२३) 'पिताजी! सुहृद् यादवोंका सुख-सम्पादन करके मैं आपलोगोंको देखने व्रजमें आऊँगा।' इस वाणीसे स्पष्ट झलकता है कि उस समय सुहृद्गणोंका सुखविधान श्रीकृष्णके लिये एक विशेष चिन्ताका विषय बना हुआ था। वे इस प्रकारकी उद्वेगकारी चिन्ताओंके कभी अभ्यस्त नहीं रहे थे। इसीलिये हमारे हृदयमें उनकी सुख-शान्तिके लिये निरन्तर चिन्ता बनी रहती थी। अब नारायणके अनुग्रहसे उन्हें इन सभी चिन्ताओंसे मुक्ति मिल गयी है।

व्रजसे मथुरा जाते समय श्रीकृष्ण हमें भी कहते गये थे कि राजा कंसका वध करके मैं शीघ्र ही आऊँगा '**सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः**' (१०। ३९। ३५)। मैंने वत्सासुर, अघासुर प्रभृतिका वध कर दिया है, कंसको मारना भी मेरे लिये कोई बड़ी बात नहीं है।

उनकी यह बात सुनकर हम बोली थीं—प्रियतम! कंसराजका वध करनेके उपरान्त तो तुम स्वयं वहाँका राज्य करने लगोगे। फिर तो इस गोचारण-क्षेत्रमें तुम्हारे प्रत्यागमनकी कोई आशा ही नहीं रहेगी—(**दयित भोः कंसवधं विधाय स्वीकर्तुं राजतां तत् कथमथ भवतामागतिस्ते व्रजाय**)। इसकी अपेक्षा तो हमारे लिये आप एक काम करना—मथुरामें अनेक तीर्थ हैं। गतप्राणा व्रजांगनाओंको स्मरण करके उन सब तीर्थोंमें तीन अंजलि जलद्वारा तर्पण कर देना—'**तीर्थे सर्वार्थदे नः स्मृतिमनुददतामञ्जलीनां त्रयाणि**'।

इस बातके उत्तरमें श्यामसुन्दरने कहा था—'मेरे हृदयमें निःसंदेह राज्यलिप्सा नहीं है। कंसवधके पश्चात् यादवोंका सुख-सम्पादन करके मैं वृन्दावन लौट आऊँगा—निश्चय आऊँगा, तुमलोग तो विश्वास कर लो कि मैं आ ही गया हूँ। (**कंसं हत्वा यदूनां सुखमभिवलयन्नस्मि चायातकल्पः**)'। तब भी यदुवीरने यादवोंके सुख-सम्पादनकी ही बात कही थी। अब यादवोंकी सुव्यवस्था हो गयी है और श्रीकृष्ण निश्चिन्त एवं निरुद्विग्न हैं। यह विचार ही हमारे लिये परम सुखकर है। उन्हें कष्ट देकर सुख पानेकी कामना कोई अन्य भले ही कर ले, हमलोग तो ऐसा कभी भी नहीं कर सकतीं।

इस प्रकार वार्तालाप करते-करते गोपियोंके अन्तरमें श्रीकृष्ण-विषयक विलास-विशेषका उदय हो गया। एक गोपी बोली—'उद्धव! गदाग्रज श्रीकृष्ण मधुनागरियोंके सरस-दृष्टि-कुसुमोंद्वारा अर्चित होकर कृतकार्य हो रहे हैं तो? कितने परितापका विषय है। व्रजमें स्वयं अर्चित होते थे, मथुरामें उन्हींको अर्चक बनना पड़ा है।

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ४०)

सौम्य उद्धव! यदि पूछो कि व्रजमें उनकी अर्चना कौन करता था तो उत्तर है कि हमलोग ही करती थीं। नित्य ही करती थीं। पुष्प, चन्दनद्वारा लौकिक पूजा नहीं, स्निग्ध हास्य एवं उदार चितवनद्वारा रसमयी पूजा करती थीं। हमारे द्वारा पूजित नित्य-ठाकुर अब राजधानीमें जाकर पूजक-ठाकुर बन गये हैं। इस विषयमें तो हम अपने प्रबल दुर्भाग्यको ही उत्तरदायी समझती हैं।

एक अन्य व्रजवधू अपनी निज सखीको सम्बोधन करती हुई बोली—अरी मुग्धे! तू तो अत्यन्त अल्पबुद्धि ही ठहरी। क्या जिज्ञासा कर रही है? नटवरनागर मधुनागरियोंकी पूजासे कृतकार्य हो रहे हैं क्या? तेरा यह प्रश्न ही निरर्थक है। इस अभिनयमें वे सम्पूर्ण रूपसे पारंगत हैं, इस विषयमें भी किसी संशयके लिये स्थान है क्या?

अरी, वे तो प्रीतिस्थापनविधाके सुपण्डित हैं (**रतिविशेषज्ञः**), अतएव स्वभावतः ही वे पुरनारियोंके प्रियतम हो चुके हैं (**पुरयोषितां प्रियश्च**)। अतएव वे तो रागविलासभंगी एवं विभ्रमद्वारा परस्परकी पूजा प्रति-पूजा किया ही करते हैं, (**तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः**)। ऐसा तो वे निश्चित रूपसे किया ही करते हैं, इसमें फिर जिज्ञास्य क्या हो सकता है? हम ठहरीं ग्राम्य पशुपालिकाएँ। मधुपुरनागरियों-सरीखी कोई भी योग्यता हमारेमें नहीं है। उन्हें अपने मनोऽनुकूल प्रेयसियाँ मिल गयीं, अतएव हमारा परित्याग कर दिया है।

ग्राम्य गोपबालिका सहजे पशुपालिका,
हाम किये श्यामसुखभोग्या।
तारा राजकुलसम्भवा, षोडशी नवगौरवा,
योग्य जने मिलये येन योग्या॥

हम ठहरीं गँवार गोप-बालिकाएँ एवं पशु चरानेवाली, हम श्यामकी सहचरी होनेयोग्य कैसे बन सकती हैं? वे हैं राजकुलमें जन्मीं, षोडशी एवं नवपरिचिता। मानो योग्य व्यक्तिको योग्य प्रेयसी मिल गयी।

एक अपर व्रजवधू कहने लगी—उद्धव! तुमसे एक बात पूछनेकी इच्छा हो रही है। तुम साधु व्यक्ति हो, इसलिये मिथ्या तो निश्चय ही नहीं बोलोगे। श्रीकृष्णने हमलोगोंका त्याग कर दिया, इसके लिये हम उन्हें कोई उलाहना नहीं देतीं; किंतु क्या उन्होंने हमें अपनी स्मृति-पटलसे भी पूर्णतः मिटा दिया है? उन्हें कभी भी हमारा स्मरण नहीं होता क्या? जब वे पुरांगनाओंके मध्यमें विराजमान होकर स्वच्छन्द वार्तालाप करते होते हैं तो प्रसंगवश भी हमारे दोष-गुणोंका स्मरण करके कोई मन्तव्य प्रकाश नहीं करते क्या?

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ४२)

पुरनारियोंके साथ कथा-प्रसंगमें श्रीकृष्ण कभी अनजाने हठात् हमारे नाम या दोष-गुणका उल्लेख भी नहीं करते क्या? क्या वे कभी कहते हैं—'हे नागरियो! तुमलोग जैसा सुन्दर गा सकती हो, नृत्य कर सकती हो, मेरी व्रजगोपियाँ भी वैसा थोड़ा-बहुत कर सकती थीं। अथवा वे नितान्त गँवार थीं इसलिये वे तुमलोगों-जैसा नृत्य-गीत नहीं जानती

थीं।' गुणांश या दोषांश किसीके लिये भी हो हमारा कोई प्रसंग उनके मनमें कुत्रापि उदय नहीं होता क्या?

एक अपर व्रजांगना कहने लगी—उद्धव! योग्य सहचरियाँ प्राप्त कर उन्होंने हम अयोग्य जनोंको विस्मृत कर दिया तो कोई अनहोनी बात नहीं, न हम इसके लिये चिन्तित ही हैं। हमें केवल इस बातका विचार हो रहा है कि उन्होंने हमारे संग इस व्रजधाममें जो सब अतुलनीय रजनियाँ रासलीला करके अतिवाहित की हैं, क्या वे उनके सम्बन्धमें एकदम ही भूल गये हैं?

इसी यमुनाके तटपर, शारदीय ज्योत्स्ना-प्लावित रासकी वे रातें; क्या उन्हें भी विस्मृत करना सम्भव है? अहो! वह रजनी जिसमें कुन्द, कुमुद, मल्लिका आदि कुसुमराशि प्रस्फुटित हो रही थी, चन्द्रने अपने कोषागारकी समस्त ज्योत्स्ना ढालकर चारों दिशाओंको शुभ्रोज्ज्वल बना दिया था। कर्पूरशुभ्र सुकोमल बालुकामय यमुना-पुलिनपर हमने श्यामचाँदको घेरकर मनोमोहक रासनृत्य किया था। दिङ्मण्डल हमारे नूपुरोंकी झंकारसे मुखरित हो उठा था। उद्धव! न तो अब वैसा चन्द्रोदय होगा, न वैसे पुष्प प्रस्फुटित होंगे, न वैसा नृत्य-गीत ही पुनः कभी होगा। क्या ये सब भी विस्मृत करनेकी वस्तुएँ हैं?

उस समय हमीं थीं उनकी प्रियतमा, हम उनके मधुर नृत्यकी प्रशंसा करतीं और वे हमारे मधुर गान-वाद्यकी प्रशंसा करते। परस्पर-परस्परको उसकी योग्यताके लिये पारितोषिक देते। वे बाजी लगाते अपनी मधुरतान मुरलीकी, हम पण लगातीं अपनी आदरकी-दुलालीकी (प्रिय सखीकी)। उद्धव! उनके मनमें उन मधुयामिनियोंकी स्मृति क्या एक बार भी नहीं जागती?

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ४३)

'उद्धव! हमें ऐसा लगता है कि हम-सरीखी श्रीकृष्ण-सेवा करना जानता हो, ऐसा एक भी व्यक्ति मथुरामें नहीं है। इसलिये हम यह सोचकर दुःख-समुद्रमें निमज्जित हो रही हैं कि रसराज श्याम-नागरके हृदयमें आनन्द नहीं है। उद्धव! यदि तुम निश्चितरूपसे कह सको कि वहाँ प्रियतमके अभिमत व्यक्ति हैं, जो उन्हें सुख पहुँचानेकी कला जानते हैं, जिनकी साधना ही उन्हें सुख पहुँचाना है, जिनके संग वे रासनृत्य एवं वेणुगीत-विनोदमें मस्त रहते हैं, तो हम दृढ़तापूर्वक कहती हैं कि हम उनके विरहमें भी सुखपूर्वक रह सकती हैं।'

नन्दनन्दनकी नवरूपता

उद्धव! तुम बुद्धिमान् हो, प्रभुतुल्य भी हो। तुम किंचित् विचारकर कहो तो सही कि एक बार व्रजमें निवास करनेके पश्चात् व्रजजीवनको विस्मृत कर रहा जा सकता है क्या? यह चिन्तामणि-भूमि पग-पगपर उनके श्रीचरण-चिह्नोंसे विभूषित है। कठोर पाषाणके गात्रपर भी ध्वजवज्रांकुशयुक्त पदचिह्न अंकित पड़े हैं। जब भी हम श्रीकृष्णको विस्मृत करनेकी चेष्टा करती हैं, तो ये परम शोभामय श्रीचरणचिह्न पुनः उनका स्मरण करा देते हैं (**श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः**)। हम तुम्हें एक बात और भी बताती हैं उद्धव! तुमने अनेक बार कहा भी है और नाना प्रकारसे हमें समझानेकी चेष्टा भी की है कि हमारे श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं; किंतु हमारा मन इस बातको माननेके लिये कदापि प्रस्तुत नहीं है। इतने दिनतक उन्हें देखा है, उनका आदर-यत्न किया है, उनके साथ मान-अभिमानके प्रसंग भी उपस्थित हुए हैं, उन्हें अपना हृदय भी दे बैठी हैं, किंतु यह हम कभी भी नहीं समझ पायीं, न आज भी समझ पा रही हैं कि वे भगवान् हैं।

श्रीकृष्ण नन्दराजके पुत्र हैं, माँ यशोदाके दुलारे, हमारे प्राण-सर्वस्व जीवननाथ हैं—हमने तो केवल यही बात जानी है और समझी है। हमारे अन्तरके अन्तरतम प्रदेशमें यही बात बद्धमूल हो चुकी है। वे भगवान् हैं, परमेश्वर हैं इत्यादि तुम्हारे एवंविध सहस्रों उपदेश, युक्ति, विचार, तर्क भी किसी भी प्रकारसे हमारे अन्तरसे यह अनुभव दूर नहीं कर पा रहे हैं कि वे नन्दसुतमात्र हैं।

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ५०)

उद्धव! यदि हम तुम्हारी इस बातपर कि 'श्रीकृष्ण भगवान् हैं' विश्वास कर पातीं तो सम्भवतः हमारी इस तीव्र विरह-वेदनाका उपशम भी हो जाता; क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिये यादृश साधन, भजन, योग, तपस्याकी आवश्यकता होती है, उसके कोटि भागका एक भाग भी हमारे इस क्षुद्र जीवनमें नहीं है। अतएव यदि हमें यह दृढ़ प्रत्यय हो जाता कि हम भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकेंगी तो उसके फलस्वरूप हमारे अन्तरसे विरह-वेदना दूर हो जाती; क्योंकि जिस वस्तुकी प्राप्तिके सम्बन्धमें आशाकी क्षीणतम रेखा भी अदृश्य हो जाती है, उस वस्तुके लिये फिर विरह-वेदना नहीं रह सकती, किंतु हमारे प्राण यह कदापि नहीं मानना चाहते कि वे भगवान् हैं। क्यों नहीं मानना चाहते, यह भी हम तुम्हें बता देती हैं।

हम मानती हैं कि भगवान् हैं और यह भी विश्वास करती हैं कि वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं; किंतु हमारे श्रीकृष्णमें तो उनमेंसे एक भी लक्षण दिखलायी नहीं पड़ता। यदि वे सर्वज्ञ होते तो हमारे अन्तरकी वेदना अवश्य जान पाते। यह जाननेके पश्चात् वे हमारे समीप आये बिना रह ही नहीं सकते थे। यदि वे सर्वशक्तिमान् होते तो किसी भी क्षण व्रजमें आकर हमें दर्शन दे सकते थे, क्योंकि सर्वशक्तिमान्‌के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। जब हम ऐसा कुछ नहीं देख पा रही हैं तब वे सर्वशक्तिमान् तो निश्चय ही नहीं हैं। वे सर्वव्यापी भी नहीं हैं। सर्वव्यापी होते तो एक ही समयमें मथुरा और व्रज दोनों स्थानोंमें रह सकते

थे। ऐसा होता तो हमें भी विरह-तापमें दग्ध नहीं होना पड़ता। अतएव हमारे श्रीकृष्ण किसी भी प्रकारसे भगवान् नहीं हो सकते, अन्ततः हमारे लिये तो नहीं ही। तुम मथुरावासियोंके लिये वे भगवान् हो भी सकते हैं, किंतु हमारे हृदयके अन्तरतम कोनेमें भी यह महासत्य दृढ़रूपसे प्रतिष्ठित है कि श्रीकृष्ण नन्द नामक गोपराजके पुत्रमात्र हैं। जबतक हमारी जीवन-सत्ता है, तबतक हमारी यह निष्ठा भी अक्षुण्ण रहेगी कि वे चिरसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं। हम तो सदा उन्हें इसी नामसे जानेंगी, बुलायेंगी और प्रेम करेंगी।

उद्धवजी गोपांगनाओंकी बातें श्रवण कर रहे हैं। विचार एवं तर्कपूर्ण युक्तियोंद्वारा श्रीकृष्णका ईश्वरत्व-खण्डन अनेक बार सुना गया है, किंतु एवंविध वेदनापूर्ण प्रीतिद्वारा इस प्रकारसे उनके ईश्वरत्वका खण्डन इतःपूर्व कहीं सुननेमें नहीं आया। इस व्यथा-विचारके सामने उद्धवजीका शास्त्र-विचार मूक होकर रह गया। उद्धवजी अपने मनमें न जाने क्या सोचने लगे।

विचारमग्न उद्धवजीके विचारोंका अनुमान करके गोपियाँ कहने लगीं—'उद्धव! यदि तुम्हारा यह कहना है कि बुद्धिद्वारा मनको अन्यत्र स्थापनपूर्वक श्रीकृष्णविषयक सभी कुछ पूर्णतः विस्मृत होकर उन्हें एकदम विस्मृत कर दें तो इस वेदनाका उपशम होकर शान्ति प्राप्त हो सकती है, तो इसके उत्तरमें हमारा कहना यह है कि ऐसा कुछ कर सकने योग्य बुद्धि ही हमारेमें अब नहीं रही। तुम्हारे भगवान्ने इस बुद्धि नामक वस्तुको तो सर्वप्रथम ही हमारे पाससे हरण कर लिया था। यह बुद्धि-हरण भी किस उपायसे किया था, यह भी हम तुम्हें बता देती हैं, सुनो!

'श्रीकृष्णके चिरसंगी हैं उनकी लालित्यपूर्ण गतिभंगी, उनके लीलायित कटाक्ष, उनका मर्मस्पर्शी तथा मनमोहक हास्य और उनकी मधुमय वाणी। इन सब नित्य-संगियोंके बलसे महाशक्तिशाली बनकर उन्होंने हमारी सारी-की-सारी बुद्धि हरण कर ली (**हृतधियः**)। अतएव अब हम किसी बुद्धि-वृत्तिद्वारा मनको संयत करके उसका अन्यत्र अभिनिवेश किस प्रकारसे कर सकती हैं? उन्हें विस्मृत करनेमें भी हम किस उपायसे सक्षम हो सकती हैं?'

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ५१)

इस प्रकार श्रीकृष्णकथा कहते-कहते गोपियाँ पूर्णरूपसे प्रेमाविष्ट हो गयीं। समीपमें उद्धवजी दण्डायमान हैं, इसलिये कुछ लज्जा-संकोच रखना उचित है, यह लोकापेक्षा भी उनके हृदयसे एकदम तिरोहित हो गयी। वे सभी मथुराकी दिशामें मुँह करके 'हा कृष्ण', 'हा कृष्ण' बोलती हाहाकार करती हुई उठ खड़ी हुईं। अत्यन्त आकुलस्वरमें वे सभी रुदन करने लगीं। नानाभाव-माधुर्यपूर्ण श्रीकृष्ण-नामावलीका उच्चारण करती हुई वे वेदनापूर्ण स्वरमें कहने लगीं— 'हे कृष्ण, हे रमानाथ, हे व्रजनाथ, हे आर्तिहरण! गोकुल डूबा जा रहा है, इसे बचाओ, हमारा उद्धार करो। हे कृष्ण! तुम परम चित्ताकर्षक हो। उसी गुणके कारण हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं। हमारेमें अपनी कोई योग्यता नहीं है। तुम्हारे माधुर्यसे तो रमातक आकृष्ट हैं, हम क्षुद्र जीव फिर किस खेतकी मूली हैं? हमारा सर्वस्व हरण करके तुम अब मथुरा जाकर रमापति बन गये हो। राज्यलक्ष्मी अब

तुम्हारी अंकगता हैं। लक्ष्मीपति भले ही बनो, हमें कोई ईर्ष्या नहीं; किंतु हमारा एकदम त्याग तो तुम्हें शोभा नहीं देता। कारण, हे रमानाथ! नारीमात्र ही लक्ष्मीकी अंशसम्भूता हैं। अतएव हम भी पूर्णतः उपेक्षणीया नहीं हैं और रमानाथ हो गये हो तो क्या इसीलिये तुम व्रजभूमिका एकदम त्याग कर सकोगे? तुम त्याग कर सको तो भले ही करो, किंतु व्रजके नर-नारी तो तुम्हारा त्याग नहीं कर सकेंगे। तुम अपने मनसे व्रजको मिटा भी दो तो भी व्रजजन तो तुम्हें व्रजनाथ कहकर ही पुकारेंगे। तुम्हीं समस्त व्रजवासियोंकी कामनाके एकमात्र धन हो। एकमात्र तुम्हें प्राप्त करके ही वे सनाथ हैं। तुम्हें खोनेसे ही वे अनाथ हो जायँगे।

हम तो जानती थीं कि जीवोंकी आर्ति दूर करना तुम्हारा एक अनन्य-साधारण गुण है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आज भी तुम्हारेमें वह गुण विद्यमान है। व्रजजनोंका आर्तिनाश तो तुम्हारा चिरव्रत है। तुमने निजमुखसे ही तो कहा था—

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २५। १८)

'मेरे शरणागत, मेरे प्रतिपाल्य, मेरे परम आत्मीय इन गोष्ठवासियोंकी मैं अपनी आत्मशक्तिके प्रभावसे रक्षा करूँगा। शरणागत-प्रतिपालन ही मेरे जीवनका महाव्रत है।' यह बात तुमने केवल कही ही नहीं थी, इसे कार्यरूपमें परिणत भी किया था। गोवर्धन-धारण करके व्रजजनोंकी इन्द्रकृत आर्तिको दूर भी किया था। उस वाक्यमें तुमने गोकुलवासियोंको निजजन कहकर स्वीकार किया है। तुम्हारी व्रजरक्षाकी

प्रतिज्ञाका स्मरण कर हम तुमसे प्रार्थना करती हैं कि मात्र एक बार गोकुल आकर अपने गोकुलवासियोंकी दशा अपनी आँखोंसे देख तो जाओ।'

तुहुँ से रहलि मधुपुर।
व्रजकुल आकुल, दुकुल कलरव, कानु कानु करि झुर॥
यशोमती नंद, अन्धसम बैठइ, साहसे उठइ ना पार।
सखागण, धेनु वेणुरव ना शुनिये, बिछुरल नगर बाजार॥
कुसुम त्यजिया अलि, क्षितितले लुठत, तरुगण मलिन समान।
मयुरी ना नाचत, कपोती ना बोलत, कोकिल न करतहि गान॥
विरहिणी राइ विरहज्वरे जरजर, चौदिके विरह हुतास।
सहजे यमुना जल आगि समान भेल, कहतहि गोविन्द दास॥

'तुम तो मधुपुर जा बसे, इधर व्रज आकुल होकर 'कानु-कानु' पुकारता हुआ झूर रहा है। नन्द-यशोदा अन्धे-से होकर बैठे हैं, उठनेका भी साहस उनमें नहीं रहा। सखागण और गौएँ वंशीध्वनि न सुन पाकर तुम्हें नगर-बाजारमें खोजते भटक रहे हैं। भौंरोंने कुसुमका त्याग कर दिया, इस दुःखमें कुसुम धरणीपर लोट रहा है, वृक्ष मलिन हो गये हैं, न मयूरी नाचती है, न कपोती बोलती है, न कोयल गाती है। विरहिणी राधा विरहज्वरसे जल रही हैं, चतुर्दिक् विरहकी अग्नि धू-धू करके जल रही है। भक्त गोविन्ददास कहते हैं कि यमुनाका शीतल जल भी इससे खौलकर आगके समान गरम हो गया है।'

समग्र व्रज आज महाशोक-समुद्रमें डूबा जा रहा है। एक दिन जब इन्द्रकृत महावृष्टिके जलप्लावनसे व्रज डूब रहा था तो तुमने ही उसे बचाया था। आज तो तुम्हारे स्व-कृत विरह-वेदनाके प्लावनसे गोकुल डूबा जा रहा है। प्यारे!

अविलम्ब आकर इस डूबते दुःखी गोकुलका उद्धार करो—

मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

(श्रीमद्भा १०। ४७। ५२)

हे गोविन्द! तुम्हारे अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है जो इस वेदना-समुद्रमें निमज्जमान गोकुलवासियोंकी रक्षा कर सके। दूतद्वारा प्रेषित तुम्हारा संदेश अत्यन्त सुन्दर है, किंतु विरह-समुद्रमें डूब रहे व्रजजनोंका उद्धार करनेकी सामर्थ्य उस उपदेश-वाणीमें नहीं है। वायु क्षुद्र दीपशिखाको बुझा सकती है; किंतु महाग्निको बुझानेकी अपेक्षा और अधिक प्रचण्ड कर देती है। तुम्हारे मूल्यवान् उपदेश किसी अत्यन्त साधारण छोटे दुःखको तो दूर कर सकते हैं, किंतु तुम्हारे अभावमें आज व्रजवासी जो दुर्विषह महादुःख भोग रहे हैं, उसे दूर नहीं कर सकते, प्रत्युत और बढ़ा देते हैं। व्रजवासी जीवन-मरणमें सोते-जागते तुम्हारे अतिरिक्त किसीको नहीं जानते। इस महाविपद्में भी यदि तुम आकर उनके पार्श्वमें खड़े नहीं होगे तो और कौन होगा? वे जीवेंगे ही कैसे? कृष्ण! इस वेदना-समुद्रसे व्रजजनोंका उद्धार नहीं करोगे तो तुम्हारे रमानाथ, व्रजनाथ, आर्तिहरण आदि नाम निरर्थक हो जायँगे। ऐसा कहते-कहते गोपांगनाओंकी महावेदनाका बाँध ढह गया।

वे अबतक बैठी हुई थीं, अब खड़ी हो गयीं तथा मथुराकी दिशामें मुँह फेरकर ऊर्ध्वबाहु होकर अत्यन्त व्यथापूर्ण स्वरसे मुक्तकण्ठ होकर 'हा कृष्ण!','हा रमानाथ!' पुकारती हुई मर्मभेदी आर्तनाद करने लगीं। उनके गण्डस्थलसे होकर वक्षःस्थलके वसनको सिक्त करती हुई भाद्रपदकी खरस्रोता स्रोतस्विनी-सदृश प्रबल अश्रुधारा बह चली। उनके तप्तनिःश्वासोंकी प्रचण्ड

उष्णतासे सारे ब्रह्माण्डमें महाक्षोभ उपस्थित हो गया। व्रजकी वृक्षलता, व्रजके पशु-पक्षी अत्यन्त व्याकुल हो गये। यमुनाकी शीतल जलराशि संतप्त होकर खौलने लगी। मकर, मत्स्य आदि जल-जन्तु अत्यन्त आर्त स्वरसे कोलाहल करने लगे। देववृन्दोंकी देहसे स्वेदबिन्दु झरने लगे। वैकुण्ठमें विराजमान लक्ष्मीदेवी भी अश्रुपात करने लगीं।

उद्धवजी निर्वाक् होकर गोपांगनाओंकी उद्घूर्णावस्थाका दर्शन करने लगे। इतना वेदनापूर्ण स्वर, इतना हृदयविदारक विलाप, हरिविरहमें इस प्रकारकी अजस्र अविरल अश्रुवृष्टि— उद्धवजीने तो क्या, विश्वजगत्‌में भी कभी किसीने कहीं भी देखी नहीं होगी। देखना तो दूर, सुनी भी नहीं होगी। देखते-देखते स्वयंके अज्ञातसारमें उद्धवजीके नेत्रयुगलोंसे दर-विगलित अश्रुवर्षण होने लगा, उसे अपने उत्तरीयसे पोंछनेका कई बार असफल प्रयास करनेके अनन्तर व्यर्थ-प्रयास उद्धव '**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्**' से आरम्भ करके '**अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया**' पर्यन्तके श्रीकृष्णकथित श्लोकोंकी महामन्त्रकी तरह बारम्बार आवृत्ति करने लगे।

विरह-व्यथाका उपशमन

व्रजांगनाओंकी दशा देखकर उद्धवजी किंकर्तव्यविमूढ हो गये। वे यही सोचने लगे कि इस भीषण विरह-दावानलको किस प्रकार निर्वापित करें। जिसके द्वारा वह अग्नि बुझायी जा सके, ऐसी मात्र एक ही सुस्निग्ध वस्तु उनकी पूँजीमें है और वह है श्रीकृष्णका वचनामृत। उसकी अपेक्षा स्निग्धतर ऐसी कोई भी वस्तु उनके करायत्त नहीं है, जिससे यह दावाग्नि निर्वापित की जा सके। इसीलिये उद्धवजी पुनः श्रीकृष्णके श्रीमुखोच्चारित वचनामृत ही बोलने लगे। वे '**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्**' से आरम्भ करके '**अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया**' पर्यन्त सारे श्लोक पुनः-पुनः गाने लगे।

विरह कम हुआ। केवल कम ही नहीं हुआ, उपशम हो गया। जिस प्रकार श्रावणकी वर्षासे दावानल निर्वापित हो जाता है, उसी प्रकार इस अमृतधारासे गोपियोंकी तीव्र विरहकी दुर्विषह ज्वाला शान्त हो गयी। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

'**ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः**'

—श्रीकृष्णके संदेशसे गोपियोंका विरहज्वर दूर हुआ। 'दूर हुआ' कहनेसे पूर्णतः दूर हो गया—ऐसा नहीं समझना चाहिये। विरहका जो अंश एकमात्र मिलनसे ही विनाश्य है, उसका नाश अवश्य नहीं हुआ। विरहका जो अंश श्रीकृष्ण-संदेशद्वारा नाश्य है, उसीका नाश हुआ।

श्रीकृष्ण-संदेशका जो अर्थ श्रीकृष्णको अभिप्रेत था, अर्थात् नित्यलीलापरक अर्थ, वही इस बार गोपियोंके हृदयमें

जाग उठा। नित्यलीलामें नित्यकाल वे श्रीकृष्णके संग युक्त ही हैं। उनके प्राणोंमें यह अनुभव उदित हो गया कि केवल इस प्रकट-प्रकाशमें ही श्रीकृष्णके साथ उनका विच्छेद है, अन्यथा नित्य-वृन्दावनमें तो वे श्रीकृष्णके संग नित्ययुक्त ही हैं। श्रीकृष्ण व्रजमें ही हैं और उनके साथ पूर्ववत् मिलित ही रहते हैं। 'श्रीकृष्ण मथुरा चले गये हैं'—इस प्रकारकी जो बात उनके मनमें आती है, वह तो एक भ्रान्तिमात्र है। जिस प्रकार स्वप्न-दर्शनके समय मिथ्या स्वप्न भी सत्य ही लगता है, उसी प्रकार उन्हें श्रीकृष्णके साथ मिलन ही सत्य लगने लगा, विरह स्वाप्निक हो गया। इस दृढ़ विश्वासने अल्पकालके लिये इनकी विरह-वेदना दूर कर दी—'**व्यपेतविरहज्वराः**'।

विरहज्वरके उपशम होनेपर अल्पकालके लिये वे प्रकृतिस्थ हो गयीं। उन्हें लगा कि श्रीकृष्णदूत उद्धवजीको कटूक्ति न कहकर मधुर वाणी एवं मधुर व्यवहारसे उनका आप्यायन करना ही उनका कर्तव्य है। अब तो वे उद्धवजीको श्रीकृष्ण-तुल्य समझकर उनका यथासाध्य सम्मान करती हुई पूजा-अर्चना करने लगीं।

'**उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्॥**'

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ५३)

उद्धवजी प्रायः दस मासतक व्रजमें रहे। इस अवधिमें उन्होंने व्रजजनोंकी विरह-वेदनाके अनेकांशका उपशम कर दिया। उद्धवजी व्रजमें '**गोपीनां विनुदञ्छुचः**'—गोपियोंके शोकका अपनोदन करते हुए निवास करने लगे।

जब कभी बाह्यानुसंधान-हेतु गोपांगनाओंकी विरह-वेदना पुनः जाग उठती, तभी उद्धवजी अत्यन्त सुमधुर स्वरमें श्रीकृष्णकी वाणीका गान करने लगते। इसके श्रवणमात्रसे

गोपियाँ अन्तर्मुखी हो जातीं। 'श्रीकृष्ण उनके कितने अपने हैं'—यह भाव प्रबलरूपसे उनके मानसमें जाग उठता। विरहके मध्यमें पूर्णप्राप्तिका जो अद्‌भुत अनुभव होता है, उसके आनन्दमें वे तल्लीन हो जातीं। नित्यलीलामें जो चिर-मिलनानन्द रहता है, उसके प्रत्यक्ष आवेशसे उनका विरह-शोक दूर हो जाता।

इसी प्रकार उद्धवजी माँ यशोदा और नन्दबाबाके समीप जाकर भी उनके सम्मुख श्रीकृष्णके रूप-गुणोंका कीर्तन करते। इसका श्रवण करके नन्द-यशोदाके हृदयका ताप भी शान्त हो जाता और वे आनन्दसागरमें डूबने-उतराने लगते। भक्त-श्रेष्ठ उद्धवजी जब श्रीकृष्णका गुणगान करते तो उन्हें उस लीलाके साक्षात्कारका ही अनुभव होता।

उद्धवजी जितने दिन व्रजधाममें थे, वे अपना समय निरन्तर श्रीकृष्ण-कथाप्रसंगमें ही बिताये। इसीलिये वह दीर्घ समय भी उन्हें एक क्षण-सा ही लगा।

व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया।

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ५५)

ऐसा लगनेका कारण यही है कि दु:खानुभूति अल्प समयको भी दीर्घकालिक अनुभव कराती है और तद्विपरीत सुखानुभूतिका दीर्घकाल भी क्षण-सा लगता है। हरिदास उद्धवजी जितने दिन व्रजमें थे, वे व्रजजनोंको साथ लेकर व्रजमण्डलमें सर्वत्र भ्रमण करते। कभी श्रीकुण्डतटपर तो कभी श्रीकुंजवनमें, कभी गोवर्धनशिखरपर तो कभी किसी गिरि-गुफामें, फिर कभी कालिन्दीके तटपर, सर्वत्र विचरण करते हुए वे पुष्पभाराक्रान्त वृक्षराजिकी (**कुसुमितान् द्रुमान्**) शोभाका दर्शन करते। जिस-जिस स्थानपर श्रीकृष्णने जो-जो

लीला की थी, उस-उस स्थानपर जाकर वे मधुर कण्ठसे अभिनव स्वर-तालमें उस लीलाका गान करते। उद्धवजीके कण्ठ-माधुर्य और अनुभव-गम्भीरता-हेतु लीला वहाँ साक्षात् प्रकट हो जाती। उपस्थित सभी लोग ऐसा दर्शन करने लगते मानो श्रीकृष्ण व्रजविहार कर रहे हैं। उनके अन्तरमें मधुरलीला-आस्वादनकी तरंगें खेलने लगतीं।

श्रीशुकदेवजीने उद्धवजीको 'हरिदास'—इस परम विशेषणसे विभूषित किया है। उद्धवजी आज प्रकृत हरिदासका ही कार्य कर भी रहे हैं। प्रकृत हरिदासका मुख्य कार्य होता है— श्रीहरिके विरही भक्तोंके प्राणोंमें श्रीहरिकथा-श्रवण कराकर आनन्द प्रदान करना। उद्धवजीका प्रतिदिन, प्रत्येक क्षण इसी कार्यमें व्यतीत हो रहा है। श्रीठाकुर महाशयने ईदृश हरिदासके जीवनके भाग्यकी कामना करते हुए ही कहा है—

'अविरत अविकल, तुया गुण कलकल,
गाइ येन सतेर समाजे।'

'मैं भक्त-समाजके मध्यमें तुम्हारे गुणगान करता हुआ ही सतत अपना जीवन व्यतीत करूँ। एक क्षण भी व्यर्थ न जाय।'

उद्धवकी परमप्रियता

उद्धवजीका दौत्यकर्म समाप्त हुआ। पूरे दस महीने व्रजमें निवास करनेके पश्चात् आज वे मथुरा लौट जायँगे। इतने समयतक उन्होंने निरन्तर श्रीकृष्ण-प्रेमातुर गोपीजनोंका दर्शन किया है। उद्धवजीने स्वचक्षुओंसे '**कृष्णावेशात्मविक्लवम्**'— श्रीकृष्णावेशसे आत्मसंवित्-हारा—सर्वस्व अर्पणद्वारा सर्वहारा गोपीजनोंके मानसिक वैक्लव्यका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। जैसी भाव-महिमा किसीने आजतक कहीं भी न देखी हो न सुनी हो, वैसी भाव-महिमाका प्रत्यक्ष चाक्षुष-दर्शन उद्धवजीको व्रजमें हुआ।

उद्धवजीने उनकी महाभावमयी अवस्था एवं चेष्टाओंका दर्शन किया है और महाभावमयी भाषाको श्रवण किया है। इसके फलस्वरूप उनके अन्तर्हृदयमें व्रजांगनाओंके पादपद्मोंमें महाचमत्कारी भक्तिका उदय हुआ है। उनकी दिव्योन्माद-अवस्थाका संदर्शन करके उद्धवजीने अपनेको महाभाग्यवान् अनुभव किया है। उनके निभृत-अन्तरमें लालसा जगी है कि हम काय-मनोवाक्से श्रीगोपीजनोंके श्रीपादपद्मोंमें गिर पड़ें, किंतु हाय! वे तो कायिक प्रणाम ग्रहण करेंगी नहीं। अतएव आपाततः मन एवं वाणीद्वारा ही उन्हें प्रणाम करना होगा। इसी हेतु अपने मुखोच्चारित वाक्योंके साथ अपना सम्पूर्ण अन्तर मिलाकर श्रीउद्धवजी बोलने लगे। श्रीशुकदेवजी वही श्रवण करके हमारे गोचरीभूत कर रहे हैं—'**उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ**'। (श्रीमद्भा० १०।४७।५७)

प्रणाम-ज्ञापनसे पूर्व उद्धवजी मन-ही-मन सोच रहे हैं कि 'सम्भवतः कोई मुझे कह बैठेंगे कि क्षत्रिय होकर इन

व्रजवासी वैश्यजातिकी नारियोंको मैं किस अधिकारसे प्रणाम कर रहा हूँ। क्षत्रियके लिये तो एकमात्र ब्राह्मणदेह ही प्रणम्य है। फिर ये नारीजाति तो मेरा प्रणाम पानेयोग्य हैं ही नहीं। अतएव अशास्त्रीय प्रणाम करके मैं एक अपराधजनक कार्य कर रहा हूँ। इस जिज्ञासाका समुचित उत्तर देना तो आवश्यक है ही।' इसलिये सर्वप्रथम यह सिद्ध करना होगा कि जगत्‌में व्रजगोपियाँ ही सर्वश्रेष्ठ प्रणम्य हैं। इसीलिये वे कह रहे हैं—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।

(श्रीमद्भा० १०।४७।५८)

श्रीभगवान् जब जगत्‌में आविर्भूत हुए हैं तो उनके संग अनेक साधक भक्त, सिद्ध भक्त, रसिक भक्त, नित्य पार्षद प्रभृति भी अवतरित हुए हैं। ये सभी विश्वकी गौरव-वृद्धि करते हुए विद्यमान हैं। 'इस समग्र भक्तगोष्ठीमें सर्वश्रेष्ठ कौन है'—यह प्रश्न उठनेपर मैं तो अत्यन्त दृढ़ निश्चयपूर्वक बिना किसी भय या हिचकिचाहटके यही कहूँगा कि श्रीनन्दव्रजवासिनी कृष्णभामिनी गोपकामिनीगण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इस विश्वके समस्त शरीरधारी जीवोंमें ये ही सर्वोत्तम हैं। यदि कोई कहे कि समुचित कारण बताये बिना हम इस बातको कैसे स्वीकार करें तो लीजिये कारण भी सुना देता हूँ—परमात्मस्वरूप श्रीगोविन्दमें जिनका इस प्रकारका प्रगाढभाव है, उन गोपीजनोंका जन्म ही जगत्‌में सर्वश्रेष्ठ है। कारण, मोक्षाकांक्षी मुनिगण एवं श्रीचरणसेवाकांक्षी भक्तगण सर्वदा ही इसी भावकी प्राप्ति-हेतु प्रार्थना करते रहते हैं, किंतु फिर भी इस भावकी प्राप्ति किसीके भी भाग्यमें सम्भव नहीं होती।

रूढभाव महाभावकी ही एक विशेष अवस्थाका नाम है। एकमात्र गोपीदेहसे भिन्न अन्य किसी भी देहमें महाभावका आधेय बननेकी योग्यता एवं सामर्थ्य नहीं है। जिस प्रकार एकमात्र गंगाधर ही गंगाको धारण कर सकते हैं, उसी प्रकार केवल व्रजगोपीजन ही महाभाववती हो सकती हैं। महाभाव-धारण करनेहेतु आवश्यकता है विशुद्ध चिन्मय देहकी, जो केवलमात्र श्रीगोपीजनोंके पास ही है। द्वारकावासी महिषी-गणोंके लिये भी यह सुदुर्लभ है— **'मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः'**।

मोक्षाकांक्षी मुनिगण अथवा सेवाकांक्षी भक्तजनोंकी बात तो दूर रही, वैकुण्ठवासिनी श्रीलक्ष्मीके लिये भी महाभाव दुर्लभ वस्तु है। व्रजांगनाओंकी चिन्मय देह ही महाभावकी एकमात्र आधार है। चिन्मय देह होती है सर्वदा प्रेमपूर्ण, जबकि भोगमय जडदेह होती है कामपूर्ण। कामकी देह त्याज्य है, प्रेमकी देह पूज्य है तथा अन्य सभी त्याज्य हैं। प्रेमका घनीभूत विग्रह ही गोपीदेह है। सुतरां विश्वके समस्त देहधारी जीवोंमें गोपीजन ही सर्वश्रेष्ठ हैं। अतएव गोपीजनोंके सम्बन्धमें उनकी गोपजातित्वकी अथवा नारी-देहत्वकी भावना नितान्त अपराधजनक है।

जो गोपीजनोंके अपरिसीम प्रीतिके पात्र हैं, वे निखिल आत्माओंके भी आत्मा हैं। वे विश्वमें सभीके निरुपाधि प्रीतिके पात्र हैं। अन्य सभी वस्तु या व्यक्तिके प्रति प्रीतिका कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है, किंतु आत्माके प्रति प्रीतिका कोई हेतु नहीं रहता। आत्मा निरुपाधि प्रेमका पात्र है। श्रीकृष्ण हैं निखिल आत्माओंके आत्मा। अतएव वे ही निरुपाधि प्रेमके पात्र हैं। इस प्रीतिके पात्रके श्रेष्ठत्व-हेतु भी गोपीजनोंका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित होता है।

गोपीजन केवल परमात्मासे ही प्रेम नहीं करतीं, परमात्माका श्रीगोविन्द-विग्रह ही उनके प्रेमका प्रकृष्ट विषय है। श्रीगोविन्द ही परमात्माकी रसघनमूर्ति हैं। वेद-शास्त्रोंमें जिस अखण्ड तत्त्वका सर्वरस, सर्वगन्ध, सर्वस्पर्श, सर्वशब्द, सर्वरूप कहकर वर्णन किया गया है, वही श्रीगोविन्द हैं। जो रूपमाधुर्य, वेणुमाधुर्य, प्रेममाधुर्य और लीलामाधुर्य—इन चारों माधुर्योंमें अनन्यसाधारण हैं, वे ही श्रीगोविन्द हैं। उन अखिलात्मस्वरूप श्रीगोविन्दमें ही गोपीजनोंका अधिरूढ महाभाव है—**'गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।'**

प्रेमकी प्रगाढतम अवस्थाका नाम है रूढभाव। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जो इस भावको धारण करते हैं, उनके भावके स्वरूपको भी सम्पूर्ण रूपसे अनुभव करनेकी क्षमता अन्य किसीमें नहीं है। उस भावकी महिमाका केवल अंशमात्र ही किसी अन्यके मनमें अनुभव किया जा सकता है। मुमुक्षु एवं मुक्त महापुरुष तथा श्रीकृष्णके नित्यसंगी जो दास एवं भक्त हैं, वे भी इस अधिरूढ महाभावकी सम्पूर्ण महिमा समझ पानेमें समर्थ नहीं होते। इस परम वस्तुकी प्राप्तिहेतु हम प्रार्थना तो करते हैं, किंतु हमें वह प्राप्त नहीं होती—**'वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च।'** (श्रीमद्भा० १०। ४७। ५८)

हमारे अन्तरमें भी एक कामना स्फुरित होती है कि व्रजगोपियों-सदृश प्रेमावेश अथवा उनका किंचिन्मात्र प्रेमावेश भी प्राप्त करके हम भी कृतकृत्य हो जायँ, परंतु ऐसी प्रेमातुरता कहीं भी किसी दिन देखनेमें नहीं आयी। जिस प्रकार जलमग्न मनुष्य अपने चारों ओर जल-ही-जल देखता है, अन्य कोई वस्तु नहीं देखता, उसी प्रकार प्रेममग्न

व्रजगोपियाँ अपने मन:काय-वाक्द्वारा प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानतीं। उनकी देहेन्द्रियाँ, वाणी, चिन्तन सभी श्रीकृष्णमय हैं। साधारण भक्तोंकी तो बात ही क्या, अत्यन्त असाधारण भक्तजन भी उनकी इस अवस्थाकी कामना करते हैं, किंतु इसका अल्पांश भी प्राप्त कर नहीं पाते। इसका भी एक गूढ कारण है। वह कारण श्रीकृष्णके माधुर्यविशेषका अनुभव ही है। श्रीकृष्णमें एक ऐसा अनन्य साधारण माधुर्य वर्तमान है, जिसके आस्वादनसे मनुष्य सब कुछ भूलकर उन्माद-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। व्रजगोपियाँ जो उन्मादिनी हो गयीं, इसका भी एकमात्र कारण है श्यामसुन्दरके मोहन माधुर्यमें उनका निविड आवेश। इस माधुर्यका आस्वादन करनेकी इस प्रकारकी क्षमता अन्य किसीमें भी नहीं है।

सुतरां इस जगत्‌में जो श्रीकृष्णकथा-आस्वादनके कार्यमें अरसिक हैं, उनका ब्राह्मण-जन्म भी व्यर्थ ही है। उधर श्रीकृष्णमाधुर्यके रसिकोंको ब्राह्मण-जन्मकी आवश्यकता ही क्या है? भले ही किसी भी ऊँच-नीच कुलमें जन्म हुआ हो, फिर भी उनका जीवन सार्थक है—**'किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त-कथारसस्य'** (श्रीमद्भा० १०। ४७। ५८)। अथवा **'अनन्त-कथासु रसो यस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिश्चतुर्मुखजन्मभिरपि किमित्यर्थः'** (श्रीधर)। अर्थात् यदि श्रीकृष्णकथामें जिनकी रुचि हुई या जिन्हें उसमें रस मिला तो उन्हें अनेक महाकल्पोंतक बार-बार ब्रह्मा होनेसे भी क्या लाभ! श्रीकृष्णरसके आस्वादनकी योग्यता अति दुर्लभ है। उसमें तन्मयता दुर्लभतर है और अधिरूढ-महाभाववती व्रज-गोपीजनोंकी श्रीकृष्णमें निविड आविष्टता दुर्लभतम है।

यदि कोई कहे, उद्धव! ये गोपियाँ एक तो स्त्रीजाति, फिर वनवासिनी और फिर व्यभिचार-दुष्टा हैं—सुतरां तुम्हारे-जैसे व्यक्तिके लिये उनकी चरणरजके लिये प्रार्थना करना युक्तिसंगत नहीं लगता तो इसका उत्तर भी सुन लीजिये। स्त्री होनेसे ही कोई दूषणीय हो और पुरुषकी अपेक्षा हीन समझा जाय, यह कोई शास्त्रीय बात नहीं है। लक्ष्मी-प्रभृति भगवत्पार्षदगण स्त्रीजाति होते हुए भी सबकी पूजनीया हैं। वनवासी होनेसे ही नीची समझी जायँ ऐसा भी कोई कारण नहीं बनता। इसमें भी यह देखना होगा कि वे किस वनमें निवास करती हैं। गोपियोंका निवास-स्थान है श्रीवृन्दावन, जिसकी अपेक्षा श्रेष्ठ वन त्रिभुवनमें दूसरा नहीं है। स्वयं ब्रह्माका कथन है कि इस व्रजवनमें जन्म ग्रहण करनेसे गोपीजन मुझ ब्रह्मकी अपेक्षा उत्कृष्टतर हैं—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

उस व्रजवनमें निवास करनेवाली कृष्णप्रिया गोपीजन निश्चय ही संसारके देव, मनुष्य, ऋषि, मुनि प्रभृति सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। ये तो उन सबसे ऊर्ध्वदेशमें विराजमान हैं। ज्ञानयोगादि साधनोंमें पुरुषजातिकी कुछ विशेषता रह भी सकती है। कारण, ये सब साधन कठोर एवं क्लेशदायी हैं; किंतु प्रेम-जगत्में तो नारी-जातिका ही श्रेष्ठ अधिकार है। श्रीमद्भागवतकी तो प्रकृष्ट वार्ता ही है—शुद्ध प्रीतिरसद्वारा श्रीभगवान्की प्राप्ति। नारियोंके हृदयमें उस प्रीतिरसका ही आधिक्य रहता है। अतएव भागवतशास्त्रके मतसे व्रजगोपियाँ ही सर्वाधिक अधिकारसम्पन्न हैं।

उद्धवद्वारा लतागुल्म होनेकी कामना

अब श्रीमद्भागवतके '**व्यभिचारदुष्टाः**' पदको लीजिये। इस सम्बन्धमें शंका वे ही लोग करते हैं, जो प्रायः बहिर्मुख और स्थूलबुद्धिसे युक्त हैं। व्यभिचारदुष्टका तात्पर्य है विपरीत दिशा-अभिमुख विचरण करना। जिस दिशामें उपास्यतम प्रियतम श्रीकृष्ण विद्यमान हों, उसकी विपरीत दिशामें जो विचरण किया करते हैं, वे ही व्यभिचारी हैं। और इन व्रजांगनाओंको देखिये, इन्होंने तो श्रीकृष्णसे भिन्न अन्य सभी विषयोंका सर्वतोभावसे परित्याग कर दिया है तथा प्रगाढ़ अनुरागपूर्वक श्रीकृष्णका ही भजन कर रही हैं। तब ये व्यभिचारदुष्टा किस प्रकार हो सकती हैं? समस्त धर्मशास्त्रोंका उपदेश है—जडवस्तुके प्रति कामनापरित्यागपूर्वक अद्वयज्ञानतत्त्व श्यामसुन्दरका भजनानुष्ठान। सभी साधक भक्त जो शास्त्रपथका अनुसरण करते हैं, वे निरन्तर इस उपदेशके पालन करनेकी चेष्टा करते हैं, जिससे श्रीकृष्ण-भिन्न तृष्णाका त्याग करके श्रीकृष्णमें निष्ठा प्राप्त की जा सके। किंतु अपना सर्वस्व त्याग करके श्रीकृष्णमें इस प्रकारका प्रगाढ़ आवेश प्राप्त करनेमें व्रजदेवियोंके अतिरिक्त कौन सक्षम हुआ है? और वह परमाराध्य अद्वयज्ञानतत्त्व नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं।

अतएव ये गोपीजन किसी भी प्रकारसे व्यभिचारदुष्टा नहीं हो सकतीं। फिर भी यदि लोग कहें तो कहते रहें। उन्हें तो एकमात्र बात यही देखनी चाहिये कि जिन्हें हम वनचरी, व्यभिचारदुष्टा कह रहे हैं, उन्हें परमात्मा-स्वरूप श्रीकृष्णके प्रति यह उच्चतम स्तरका अधिरूढ महाभाव कैसे

प्राप्त हो सकता है? इन दोनों अवस्थाओंका एक ही व्यक्तिमें एक साथ अस्तित्व सम्भव है क्या?

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।

(श्रीमद्भा० १०।४७।५९)

गोपीजनोंके ऊपर जो व्यभिचारदोष (अर्थात् श्रीकृष्ण उनके उपपति थे, इसलिये उनकी सेवा करना अपराध है, यह दुष्टभाव)-का आरोपण करते हैं, वे सभी दोषारोपणकारी व्यक्ति अक्षय नरक-भोगके उपयुक्त पात्र हैं—

'तत्रासु व्यभिचारदोषारोपोद्गलका ये हन्त ते नारकाः।'

गोपियोंको जिस अद्भुत एवं विस्मयजनक प्रेमकी प्राप्ति हो चुकी थी, उसका ज्ञान हुए बिना ब्रह्माके रूपमें जन्म ग्रहण करना भी व्यर्थ ही है (**वार्ता यस्य विना वृथा भवति तद् ब्रह्मादीनां जन्म च**)।

श्रीकृष्ण तो परमात्मा हैं, उन्हें पहचाननेमें ही ब्रह्माका ब्रह्मत्व है। समस्त जीवोंके सभी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता श्रीकृष्ण ही हैं। सभीके आत्माकी आत्मा भी श्रीकृष्ण ही हैं। गोपीजनोंके पतिम्मन्यगणोंकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातारूपसे श्रीकृष्ण ही उनके पति सिद्ध होते हैं तथा उनकी आत्माओंके आत्मारूपसे भी श्रीकृष्ण ही पति सिद्ध होते हैं।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३६)

गोपियोंके, उनके पतियोंके एवं समस्त देहधारी प्राणियोंके बाहर इन्द्रियोंके अधिष्ठातारूपसे और अन्तरमें अन्तरात्मारूपसे जो नित्य विचरण करते हैं, वे परमात्मा ही लीलाविहार-हेतु

श्रीकृष्णरूपसे विद्यमान हैं। अतएव व्यभिचार-दोषकी सम्भावना ही कहाँ रही? जो अपना सर्वस्व त्याग करके श्रीकृष्णका भजन नहीं करते, वस्तुतः वे ही प्रकृत व्यभिचारी हैं।

पूर्वपक्ष शंका उपस्थित करता है। आपने जो कहा, वह समझमें आ गया—तत्त्वदृष्टिसे गोपीजन व्यभिचारदुष्टा नहीं हैं, प्रत्युत व्रजजनोंके अतिरिक्त जो लोग कृष्ण-भजन नहीं करते, वे ही प्रकृत व्यभिचारी हैं, किंतु इतना समझ लेनेपर भी संशय नहीं मिट रहा है। कारण, तत्त्वदृष्टि और व्यवहारदृष्टिका एकत्व बुद्धि ग्रहण नहीं कर पा रही है। जब ऐसा भी सुननेमें आता है कि गोपियोंके अन्य पति भी थे तो बाह्यदृष्टिसे वे व्यभिचारदुष्टा बोलकर विशेषित होंगी ही। तात्त्विक व्याख्यासे इसका निराकरण नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें हम कहेंगे कि नहीं, व्यवहारदृष्टिसे भी किसी प्रकारका दोषारोपण नहीं किया जा सकता। उनके दूसरे पति भी थे, यह बात जो सुनी जाती है, वह केवल योगमायाकल्पित है। कारण, ऐसा होनेपर व्रजांगनाओंके रूढ महाभावका प्रकाश पूर्णांग नहीं होता। प्रबलतम दुःख भी यदि श्रीकृष्णप्राप्ति-सम्भावनाद्वारा परम सुखकर प्रतिभात हो तो उस प्रणयका नाम ही रूढ महाभाव कहा जाता है। अनुराग परिपूर्णरूपसे प्रकटित न हो तो रूढ महाभाव व्यक्त नहीं हो सकता। मर्यादाशालिनी कुलवधुओंद्वारा लज्जा-त्याग एवं पातिव्रत्य-त्याग, उनके द्वारा प्रज्वलित अग्निमें भस्मीभूत होने या विषधर सर्पकी विषज्वालासे प्राण-त्याग करनेकी अपेक्षा भी अधिकतर वेदनाका हेतु होता है। गोपीजनोंने श्रीकृष्णप्रेमके वशीभूत होकर उस लज्जा एवं पातिव्रत्यका भी त्याग कर दिया, इसीलिये उनका अनुराग रूढ महाभावकी उच्च

भूमिकापर आरोहण कर सका। अतएव योगमायाने इस प्रकारके एक कल्पित पतिभावकी सृष्टि करके रूढ महाभावके आसनकी रचनामात्र की है।

अब यदि कहें कि व्रजांगनाएँ तो श्रीकृष्णको परमात्मा नहीं जानती थीं, व्रजराजनन्दन ही जानती थीं, तो ऐसी स्थितिमें उनके जारत्वदोषका निरसन किस प्रकार होगा? इसके उत्तरमें उद्धवजी कह रहे हैं—

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ५९)

प्रकृत अगदराज (ओषधियोंका राजा—अमृत) अनजानमें भी अर्थात् अमृतके गुण न जानते हुए भी यदि पी लिया जाय तो सर्वव्याधि-दोष दूर करके दिव्यदेहकी प्राप्ति करा देता है। इसी प्रकार पुरुषोत्तमको पुरुषोत्तमबोधसे न जानकर भी यदि कोई भजन करता है तो भी धर्मविरुद्धता और रसविरुद्धताके सब दोष स्वतः ही दूर हो जायँगे और सर्वविध मंगलकी प्राप्ति हो जायगी। इसमें विन्दुमात्र भी संशय करनेका अवकाश नहीं है। अतएव हम इस सिद्धान्तपर उपनीत होते हैं कि श्रीकृष्णमाधुर्यके परमोत्कर्षका एकमात्र व्रजांगनाओंने ही अनुभव किया है और उसके आस्वादनद्वारा वे ही परमतम अभिनिवेशको प्राप्त कर पायी हैं।

यह परम सौभाग्य विश्वमें अन्य किसीको प्राप्त नहीं हुआ—अधिक तो क्या नारायणवक्षोविलासिनी श्रीलक्ष्मीदेवीको भी प्राप्त नहीं हुआ। श्रीलक्ष्मीदेवी वैकुण्ठेश्वरी हैं, नारायणकी प्रियतमा हैं, किंतु श्रीनन्दनन्दनका जो अनन्यसाधारण माधुर्य है, उसका अनुभव करनेमें वह भी समर्थ नहीं हो सकीं।

श्रीलक्ष्मीदेवी स्वर्णकमल-जैसी कान्तिमती हैं, समस्त श्रेष्ठ धामोंके शिरोमणि श्रीवैकुण्ठधामकी सम्राज्ञी हैं। भू-लीला-प्रभृति शक्ति-वर्गमें वे सर्वश्रेष्ठ हैं, किंतु व्रजांगनाओंके सदृश श्रीकृष्णमाधुर्यके आस्वादनका अधिकार उन्हें भी नहीं मिला। जब यह अधिकार श्रीलक्ष्मीदेवीको ही नहीं मिला तो स्वर्गकी अन्य किसी देवीको प्राप्त होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये श्रीउद्धवजी कह रहे हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६०)

श्रीनारायण और श्रीकृष्ण स्वरूपतः अभिन्न हैं, किंतु रसतः उन दोनोंमें विशेष भिन्नता विद्यमान है। मक्खन और छेना दोनों ही दुग्धके सार हैं, स्वरूपतः वे एक ही हैं, किंतु उनके स्वादमें भिन्नता तो है ही। आकृतिमें नारायण चतुर्भुज हैं, भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज हैं। श्रीनारायणमें निरन्तर ईश्वरावेश विद्यमान है, जबकि भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर गोपावेश विद्यमान है। ***'कृष्णेर जतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला।'*** मनुष्यवेश-लीलामें श्रीकृष्णकी ही लीला सर्वोत्तम लीला है। नारायणके ईश्वर-भावकी अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्णके मनुष्यभावमें माधुर्य अधिकतर है। रसके विषयमें रसगत पार्थक्य होनेके कारण, रसके आश्रयमें भी उसी प्रकारका पार्थक्य विद्यमान है। अर्थात् व्रजदेवियों और लक्ष्मीदेवियोंमें तत्त्वतः पार्थक्य न होते हुए भी रसगत भेद विद्यमान है ही, इसीलिये कह रहे हैं—

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६०)

रासोत्सवमें निखिल माधुर्य-प्रवर्षणकारी श्रीकृष्णचन्द्रके भुजदण्डोंद्वारा आलिंगित होकर व्रजांगनाओंने जैसे आनन्दकी प्राप्ति की, श्रीलक्ष्मीदेवी भी वैसा आनन्द या प्रसाद प्राप्त नहीं कर सकीं। यद्यपि श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीनारायणकी सतत अंकविलासिनी हैं, किंतु उनमें व्रजदेवियों-जैसी प्रेममयी तीव्र पिपासाका अभाव होनेके कारण उनमें गोपियों-सरीखी आस्वादनकी चमत्कारिता एवं गम्भीरताका प्रकाश नहीं है। श्रीनारायणके प्रति श्रीलक्ष्मीदेवीकी ईश्वरबुद्धि होनेके कारण वहाँ प्रीतिरस किंचित् संकोचपूर्ण दृष्ट होता है। किंतु श्रीकृष्णके प्रति व्रजांगनाओंमें ईश्वर-बोधके अभाव-हेतु उनकी प्रीति संकोचहीन है। इसीलिये वह उज्ज्वलतर है।

श्रीनारायणमें श्रीलक्ष्मीदेवीकी तदीयता-बुद्धि है। मैं श्रीनारायणकी सेविका एवं दासी हूँ—यह बोध उनके हृदयमें सुदृढ़रूपसे विद्यमान है। अधीनतामें तो किंचित् दुर्बलता रहती ही है। इसीलिये दुर्बलता-हेतु प्रीति अपनी चरम गाढ़ताको प्राप्त करनेमें बाधा पाती है। लक्ष्मीदेवीकी ही प्रकटमूर्ति श्रीरुक्मिणीजी श्रीकृष्णके उपहास-वाक्यसे मूर्च्छित हो गयी थीं। प्रीतिरसके पूर्ण गाढत्वके अभाव-हेतु ही इस प्रकारकी मूर्च्छा सम्भव हो सकी थी।

'कृष्ण यदि रुक्मिणी के कैल परिहास।
कृष्ण छाड़िवेन जानि रुक्मिणीर हैल त्रास॥'

एतद्विपरीत श्रीव्रजदेवियोंका श्रीकृष्णमें मदीयतामय प्रेम है—'श्रीकृष्ण तो हमारे ही हैं' इस अनुभवसे अन्तर पूर्ण है।

'सो काहा जाइब, आपहि आइब पुनहिं लुटाइब चरणे।'

यह गम्भीर विश्वास प्राणोंमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। तभी तो वे मानवती हो सकती हैं। वे श्रीकृष्णकी अपेक्षा

नहीं करतीं, श्रीकृष्ण ही उनकी अपेक्षा करते हैं। तभी तो कहा गया है, रासोत्सवमें सबके साथ हाथ पकड़-पकड़कर नाचे हैं। प्रेमके आवेशमें श्रीकृष्णचन्द्रने स्वतः प्रवृत्त होकर हठात् गोपिकाओंके गलेमें अपने बाहु डालकर उन्हें कण्ठलग्न कर लिया (**अस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ०**)। ऐसा क्यों किया? सम्भवतः उन्हें आशंका हो गयी कि अपने प्रेमावेगकी अपेक्षा गोपियोंके तीव्रतर प्रेमावेगमें बह न जायँ, इसीलिये उनका आश्रय ले लिया। गोपियोंकी प्रीतिके श्रेष्ठत्वको श्रीकृष्णने—'**न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्०**' (१०।३२।२२) में स्पष्ट स्वीकार किया है। श्रीमद्भगवद्गीताकी—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' (४।११) में की गयी आश्वासन-वाणीके अनुसार भगवान् सर्वत्र भक्तके अनुरूप ही भजन किया करते हैं। किंतु '***एई नियम भंग होइलो गोपीर भजने।***' अर्थात् भक्तके प्रति भगवान्का और भगवान्के प्रति भक्तका अनुराग समान ही होगा। सर्वत्र होता भी ऐसा ही है। किंतु मात्र एक दिन इसमें व्यतिक्रम हो गया। रासोत्सवमें श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंके प्रेमकी प्रबलता गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णके प्रेमकी प्रबलताकी अपेक्षा तीव्रतर होनेके कारण श्रीकृष्ण ऋणी हो गये। ऋणकी स्वीकृति अथवा रसिक महाजनोंकी भाषामें 'खत' उपर्युक्त '**न पारयेऽहम्**' श्लोकमें विद्यमान है। गोपीप्रेमके प्रबल प्रवाहमें बहकर कहीं खो न जायँ, इस भयसे श्रीकृष्णचन्द्रने अपने भुजदण्डोंद्वारा गोपियोंका कण्ठप्रदेश कसकर भींच लिया। यह अपूर्व सौभाग्य सम्पूर्ण विश्वमें कभी अन्य किसीको भी नहीं मिला था। तभी भक्तजनोंने गाया है—

रासलीला जयत्येषा जगदेकमनोहरा।
यस्यां श्रीव्रजदेवीनां श्रीतोऽपि महिमा स्फुटः॥

'जय हो रासलीलाकी, जिसमें सुस्पष्टरूपसे यह सिद्ध हो गया कि श्रीलक्ष्मीदेवीकी अपेक्षा भी व्रजदेवियोंकी महिमा अधिकतर है।'

एतादृश महामहिमान्वित व्रजदेवियोंके श्रीचरणोंमें प्रणत होकर धूलिस्नात होनेकी लालसा किसके मनमें नहीं होगी? मैं उद्धव, श्रीकृष्णका सखा हूँ बोलकर सम्भवतः गोपीजन मुझे अपनी पदरज प्रदान न करें। इसीलिये मैंने मन-ही-मन एक संकल्प किया है। सुना है कि मनुष्य जिस संकल्पको लेकर देहत्याग करता है, परजन्ममें उसे वही प्राप्त होता है। मैं यह संकल्प कर रहा हूँ और मृत्युपर्यन्त इस संकल्पको अपने हृदयमें सावधानीपूर्वक जाग्रत् रखूँगा कि मेरे इस उद्धव-जन्मकी समाप्तिपर मेरा भावी जन्म श्रीवृन्दावनके पथपार्श्वमें किसी गुल्मलताके रूपमें ही हो। उस अवस्थामें श्रीकृष्णकी वंशीकी मधुर ध्वनिसे आकृष्ट होकर व्रजगोपियाँ जब दिग्विदिक्शून्य होकर वेगसे दौड़ती हुई उधरसे निकलेंगी, तब अनजानमें ही उनके श्रीचरण मुझ गुल्मलता बने हुए उद्धवपर पड़ जायँगे। उस दुर्लभ चरणरजका स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

इस प्रसंगमें श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धु सुन्दरके एक अपूर्व प्रार्थना-पदका स्मरण हो रहा है—

विधि यदि गुल्मलता करितो रे कुञ्जवने,
साजिताम ब्रजगोपीर पदरजः आभरणे।
नित्य निकुञ्ज माझारे, सखीसने अभिसारे,
एसे किशोरी आमारे दलितेन श्रीचरणे।

हाते वांशी कालशशी, निकुञ्ज कानने पशि,
सुखे रहितेन बसि ममोपरे प्यारी सने।
क्रीडाश्रमे राधाश्याम, घामितेन अविराम,
अमनि पदेर घाम लइताम सजतने।
बन्धु बलिछे कातरे, कबे राधादामोदरे,
साजाबो हृदय भरे हेरिबो प्रेमनयने॥

'यदि विधाता मुझे कुंजवनकी गुल्मलता बना देते तो मैं व्रजगोपियोंके पदरजसे अपना शृंगार किया करता। श्रीकिशोरीजी नित्य सखियोंसहित निकुंजमें अभिसार-हेतु पधारतीं और मुझे उनके श्रीचरणोंका मादक स्पर्श मिलता, इतनेमें ही श्यामचन्द्र वंशी हाथमें लिये हुए निकुंजमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ आनन्दसे मेरे ऊपर विराज जाते। श्रीराधा और श्रीश्यामकी देहपर जब क्रीडाविहारके श्रमसे स्वेद-बिन्दु झलकने लगते तो मैं अत्यन्त यत्नके साथ उनके चरणोंका पसीना सोख लेता। बन्धु कातरस्वरसे पुकार रहे हैं कि वह समय कब आयेगा जब मैं श्रीराधादामोदरको अपने हृदयमें सजाकर प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे निहार सकूँगा।'

पदरजकी प्रार्थनाकी चमत्कारिता

व्रजांगनाओंकी महामहिमाके विषयमें सोचते-सोचते श्रीउद्धवके मनमें महान् दैन्य उपस्थित हो गया। श्रीगोपीजनोंके पादपद्मोंमें अपने अशेष प्रणाम निवेदन करनेके लिये उनके मनमें उत्कट इच्छा जगी, किंतु वे गोपीजनोंके निकट जानेका साहस न कर सके, अतः कुछ दूर रहते हुए ही कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

जिन व्रजांगनाओंके हरिकथागानसे तीनों लोक पवित्र हो रहे हैं, उनके श्रीचरणोंके प्रत्येक धूलिकणकी मैं प्रतिक्षण वन्दना करता हूँ। अभी तो मैं दूरसे ही वन्दना करता हूँ, समीप जानेका सौभाग्य जब प्राप्त होगा तभी जाऊँगा। जिस दिन मैं श्रीवृन्दावनके किसी पथपार्श्वमें तृण-गुल्म-लता होकर जन्म ग्रहण करूँगा, उस दिन जब वे श्यामसुन्दरकी वंशीध्वनिसे दिग्विदिक्-ज्ञानशून्य होकर अभिसारहेतु वेगपूर्वक दौड़ी आयेंगी तभी तो मैं उनकी श्रीचरणधूलि अपने वक्षपर धारण कर सकूँगा।

उद्धवजीके अन्तरमें प्रबल वासना है कि वे वृन्दावनके पथपार्श्वमें तृण-गुल्म होकर जन्म ग्रहण कर सकें। श्रीकृष्णविरहसे कातर होकर गोपियाँ जब श्रीकृष्ण-कथा कहतीं, विरहव्यथित कण्ठसे जब श्रीकृष्ण-गुणगान गातीं, तब उद्धवजीके कर्णोंमें मानो मधुवर्षण होने लगता। उन्हें ऐसा लगता मानो गोपीजन-कण्ठोच्चारित हरिगुणगान त्रिभुवनको पवित्र कर रहा है (**पुनाति भुवनत्रयम्**)। केवल यही नहीं, उद्धवजीको लगता कि हरिविरहकातरा गोपीजनके महाभाव-सम्पद्के विषयमें जो भक्तजन कीर्तन करते

हैं, वे भी त्रिभुवनको पवित्र करते हैं। गोपीजन धन्यातिधन्य हैं, उनके विषयमें जो चर्चा करते हैं अथवा जो उनकी चरणरज अपनी देहपर धारण करते हैं, उनका जीवन भी कृतकृत्य है।

श्रीकृष्ण-भक्तसमुदायमें उद्धवजी शीर्षस्थानीय हैं, यह बात श्रीभगवान्‌ने एकादश स्कन्धमें निजमुखसे ही कही है—'**त्वं तु भागवतेष्वहम्**' अर्थात् उद्धव! निखिल विश्वके भागवतोंमें 'तुम्हीं मैं हूँ।' इस श्रीमुखवाणीसे उद्धवका सर्वश्रेष्ठत्व सुस्थापित है। एतादृश श्रीउद्धवद्वारा व्रजगोपियोंकी पदरेणु पानेकी स्पृहा सचमुच ही विशेषरूपसे चमत्कारी लगती है। उद्धवजीने तो अपने जीवनके अनेक वर्ष द्वारकाकी पट्टमहिषियोंके आस-पासमें व्यतीत किये हैं, किंतु उनके सम्बन्धमें भी उद्धवजीका एतादृश दैन्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उद्धवजी जो भक्तश्रेष्ठ और श्रीकृष्णप्रेष्ठ हैं, उसके और जितने भी कारण क्यों न हों किंतु उन सब कारणोंमें अन्यतम कारण यही है कि उद्धवजीने गोपियोंकी पदरेणु-प्राप्ति-हेतु गुल्म-लता होकर भी वृन्दावनमें जन्मग्रहणकी कामना की थी। इस सर्वोत्कृष्ट लालसाके लिये जगत्‌के भक्तसमाजने उद्धवजीको प्रणाम करते हुए कहा है—

श्रीमदुद्धवं वन्दे कृष्णप्रेष्ठवरोऽपि यः।
गोपीपदाब्जधूलिस्पृक् तृणजन्मोऽप्ययाचत॥

'हम श्रीकृष्ण-प्रियजनोंमें सर्ववरेण्य श्रीमान् उद्धवको प्रणाम करते हैं, क्योंकि गोपीपदधूलिकी कामना करके उन्होंने व्रजमें तृण-गुल्म होकर भी जन्म पानेकी इच्छा की।'

उद्धवजीको व्रजमें आये हुए दस मास हो गये, तब उन्होंने मथुरा लौटनेका विचार किया। प्रस्थानकी अनुमति लेनेके लिये वे सर्वप्रथम गोपीजनोंके पास, तत्पश्चात् माँ यशोदाजीके पास, तदनन्तर नन्दरायजीके पास उपस्थित हुए। इसके पश्चात् उन्होंने

सभी गोपोंसे सम्भाषण किया। उद्धवजीके विदा-अनुमति लेनेके क्रमको देखकर भी ऐसा लगता है कि उन्होंने व्रजजनोंसे उनके श्रीकृष्णप्रेमोत्कर्षके तारतम्यानुसार ही विदा होनेकी आज्ञा माँगी—

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६४)

व्रजांगनाओंमें श्रीराधिकाजीका प्रेम ही उच्चतम था। इसीलिये उद्धवजी सर्वप्रथम श्रीराधिकाजीसे विदा-अनुमतिकी प्रार्थना कर रहे हैं। श्रीउद्धव कह रहे हैं—'हे श्रीकृष्णप्रेयसी श्रीराधिकाजी! मैं आपके श्रीचरणोंकी संनिधिमें निवास करनेको सर्वश्रेष्ठ लाभ मानता हूँ, किंतु आपके प्रियतम आपका संवाद जाननेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके उद्वेग-निवारण-हेतु एवं चित्त-विनोदन-हेतु अब मेरा अविलम्ब मथुरा जाना उचित है। इसीलिये मैं आपसे विदा होनेकी अनुमति-प्रार्थना कर रहा हूँ। श्रीकृष्णचरणोंमें यदि कुछ निवेदन करना हो तो इस दासके प्रति आदेश कीजिये।'

उद्धवजीकी वाणी अत्यन्त दीनता एवं विनयसे पूर्ण थी, कण्ठका स्वर भी विदाकी वेदनासे प्लावित था, तब अत्यन्त कातर कण्ठसे श्रीराधाजी बोलीं—'उद्धव! मुझे तुमसे मात्र एक ही बात कहनी है। श्रीकृष्णकथा-वर्णन करते समय तुमने हमसे पुनः-पुनः यही कहा है कि श्रीकृष्ण हमारे विरहमें अत्यन्त कातर हैं। सम्भवतः तुमने ऐसा इसीलिये कहा है कि ऐसा सुनकर हमारे विरहदग्ध प्राणोंमें सान्त्वनाका संचार होगा। तुम्हारा ऐसा सोचना उचित भी है, कारण, प्राकृत जगत्में जो जिसके विरहसे कातर हो, उसे यदि सुनाया जाय कि उधरवाला भी तुम्हारे विरहमें व्याकुल है तो उसे किंचित् सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है।

जिनके वियोगमें मैं रो रही हूँ, वे भी मेरे वियोगमें उसी प्रकार अश्रुवर्षण कर रहे हैं, यह संवाद विरहिणीके लिये किंचित् सुख-शान्तिका कारण अवश्य बनता है, किंतु उद्धव! तुम व्रजजनोंके श्रीकृष्णानुरागकी रीति कुछ भी नहीं जानते। श्रीकृष्णकी कातरताके संवादसे हमें सुख होना तो दूरकी बात है, एतद्विपरीत हमारे दुःखकी ज्वाला शतगुणा वर्धित ही होती है। 'श्रीकृष्ण सुखसे हैं' यह जान पानेपर हम अधिकतर सुखी होतीं। तुम व्रज-प्रेमके स्वरूपतत्त्वसे पूर्णतया अनभिज्ञ हो, इसीलिये तुमने पुनः-पुनः हमसे ऐसा कहा है। अब जानेके समय तुमसे हम जो कह रही हैं, उसे स्मरण रखना—

'श्रीकृष्ण हमारे विरहमें कातर हैं'—यह बात जिस प्रकार तुमने हमारे समक्ष कही है, उसी प्रकार 'हम भी श्रीकृष्णविरहमें कातर हैं' ऐसा कभी भी उनसे मत कहना। कारण, हमारा हृदय तो वज्र-तुल्य है, इसलिये यह संवाद सुनकर भी यह विदीर्ण नहीं हुआ। यदि हमारा हृदय वज्र-सम कठोर न होता तो इस संवादके श्रवणमात्रसे यह खण्ड-खण्ड होकर फट जाता। श्रीकृष्णका हृदय तो हमारे-जैसा कठोर नहीं है, वह तो सतत नवनीत-सदृश कोमल है। हमारी दुर्दशाकी बात सुननेपर वे किसी भी प्रकारसे धैर्य धारण न कर पायेंगे और उनके लिये अपना प्राण रखना भी कठिन हो सकता है—

यथा मां सहसावादीस्तथा त्वं मा तमुद्धव।
अहं वज्रमयी शश्वन्नवनीतमयः स तु॥
किंतु स्नेहत्यागशिक्षां तं वद प्रान्तकक्षया।
क्रमेण हि बहिः कार्या जीर्णवस्त्रादार्द्रता बुध॥

(उत्तरगोपालचम्पू १२। ८६-८७)

'यदि पूछो कि फिर उन्हें हमारी क्या बात सुनानी है,

तो सुनो—हमारी दुर्दशाकी कहानी उन्हें एक बारमें ही एकदम मत सुना देना। शनैः-शनैः दस-पाँच दिनका अन्तराल दे-देकर एक-एक बात सुनाना और उसके बीच-बीचमें प्रत्येक दिन ऐसी सब बातें सुनाना, जिनसे हमारे प्रति उनका स्नेह कम होता-होता समाप्त हो जाय। जीर्ण वस्त्रको निचोड़कर जल निकालना हो तो ऐसा धीरे-धीरे ही किया जा सकता है। एकदम एक बारमें ही सब जल निकाल डालनेकी चेष्टा की जाय तो वस्त्र ही फट जायगा।' ऐसा कहते समय एक अनिर्वचनीय शोकमय भावसे श्रीराधा अधीर एवं विह्वल हो गयीं। श्रीराधाने काँपते हुए हाथोंसे एक मुद्रित पत्र उद्धवजीके हस्तमें अर्पण किया। उस पत्रमें लिखा था—

व्रजशशधर ता व्रजगास्त्याज्या न कलङ्कशङ्कया भवता।
न शशी कलङ्कतनुमप्युज्झति शशकं स्वमाश्रितं जातु॥

(उत्तरगोपालचम्पू १२। ८८)

'हे व्रजचन्द्र! तुम वृन्दावनको अन्धकारमय करके वर्तमानमें मथुराके आकाशमें उदित हुए हो, तथापि कलंककी आशंका-हेतु व्रजांगनाओंका परित्याग मत कर देना। शशधर अपने अंकाश्रित कलंकमूर्ति शशकका कभी भी परित्याग नहीं करता, सर्वदा उसे अपने वक्षपर धारण किये हुए ही गगनपथमें विचरण करता है। इसके लिये कोई उसपर लाञ्छन नहीं लगाता। हम भी तो तुम्हारी अंक-आश्रिता हैं, अतः हमें हृदयमें स्थान देनेसे तुम्हें कलंक नहीं लगेगा।'

तब उद्धवजीने पुनः पूछा—'आपके प्राणवल्लभको एक बार व्रज आनेके लिये अनुरोध करूँ क्या?' श्रीराधाने अत्यन्त गम्भीर होकर उत्तर दिया—'नहीं! जबतक वे निश्चिन्त होकर न आ सकें उतने दिन न आना ही श्रेयस्कर है। हम

केवल उन्हें पाकर ही सुखी नहीं हुआ करतीं, उनके मुखमण्डलपर हास्य देखकर ही हम सुखी होती हैं। अनुरोधजन्य मिलन सुखकर नहीं हुआ करता।' इसके पश्चात् उद्धवजीने सबसे विदा लेकर अपना रथ तैयार किया। रथपर सवार होनेके लिये वे धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए व्रजके बहिर्द्वारतक आ पहुँचे। सभी व्रजजनोंने रथके साथ उनका अनुगमन किया। व्रजराज नन्द, व्रजेश्वरी यशोदा एवं अन्यान्य सभी व्रजवासियोंने श्रीकृष्णके लिये प्रगाढ अनुरागके सहित नाना प्रकारके उपहार उद्धवजीको अर्पण किये। इन सब उपहारोंमें था नवनीत एवं छेनेकी बनी विविध सामग्री। माताओंने विशेषकर खाद्य द्रव्य ही दिये। सखाओंने वनफूल, मयूरपिच्छ, नानाविध फल-मूल दिये और व्रजदेवियोंने गुंजाहार एवं सूचिशिल्पयुक्त नाना वस्त्र दिये। इन सभी उपहारोंमेंसे प्रत्येकपर ऐसा कोई चिह्न अवश्य अंकित था, जिसके द्वारा श्रीकृष्ण उस उपहारके प्रेषकको पहचान जायँ। नन्दरायने वसुदेव, देवकी एवं उग्रसेन प्रभृतिके लिये दुग्ध एवं घृत आदि भेजे। किसी-किसीने उद्धवजीको भी नानाविध वस्त्रालंकार प्रदान किये।

नन्दबाबाको प्रबोध देते समय उद्धवजीने अनेक बार उन्हें यह समझानेकी चेष्टा की थी कि श्रीकृष्ण किसीके पुत्र नहीं हैं, वे तो स्वयं भगवान् हैं—'**न माता न पिता तस्य न भर्ता न सुतादयः**'। नन्दराज इस बातको कभी भी बोधगम्य नहीं कर सके थे। विदाके समय न जाने क्या सोचकर वे उद्धवजीसे कहने लगे—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६६-६७)

वियोगमय पितृवात्सल्य-जन्य तीव्र विषादसे अभिभूत होकर व्रजराज बोले—'हे उद्धव! तुम्हारे मतसे श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, अच्छा, वैसा ही हो। उस कृष्णरूपी परमेश्वरमें मेरे मनकी समस्त वृत्तियाँ लगी रहें। वह मेरा पुत्र हो चाहे ईश्वर हो, उसके प्रति मेरा मन कभी उदासीन न हो। मेरी वाणी उसके नामका सतत कीर्तन करती रहे और मेरी देह उसकी सेवामें लगी रहे। अपने कर्मोंके फलस्वरूप भले ही मैं कहीं भी किसी भी योनिमें जाऊँ, किंतु वह मेरे द्वारा ऐसे शुभकर्मोंका अनुष्ठान कराता रहे, जिससे मेरी रति और मति सदा उसके श्रीचरणोंमें स्थिर रहे।'

ऐसा कहते समय नन्दराय वस्त्रद्वारा मुँह ढककर (**वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य**) नेत्रोंसे तीव्रवेगसे प्रवाहित अश्रुधारा संवरण करनेका प्रयत्न कर रहे थे। नन्दरायकी इस प्रबल कातरतासे स्पष्ट समझा जा सकता है कि उनकी यह उक्ति श्रीकृष्णके प्रति ऐश्वर्य-बुद्धिवशतः नहीं है। पुत्रवात्सल्यमें आप्राण डूबे हुए अत्यन्त दुःखसे व्याकुल होकर 'न जाने किस दोष-हेतु प्राप्त कृष्ण खो बैठा' इस विचारकी असह्य व्यथासे ही इस प्रकारकी उक्ति उनके मुँहसे निकली है। श्रीशुकदेवजी भी कहते हैं—**'नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्'**—नन्दरायने अनुराग-हेतु ही ऐसा कहा था, ऐश्वर्यबुद्धिसे नहीं, किंतु यदि अनुरागवश ही कहा था तो दास्यभावसे ईश्वरवाचक शब्दका प्रयोग क्यों किया? उसका कारण यह है—

कृष्ण प्रेमेर एक अद्‌भुत स्वभाव।
गुरु, सम, लघुके कराय दास्यभाव॥

आनेर का कथा व्रजे नंद महाशय।
सेइ कृष्णपदे रति मति ये मागय॥

(चै० चरितामृत)

श्रीकृष्णप्रेमकी एक अपूर्व विचित्रता यह है कि वह परम गुरुजनोंके चित्तमें भी कभी-कभी लघुजनोचित दास्यभावका उदय करा देता है। दूसरेकी तो बात ही क्या है, नन्दराय भी श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें रति एवं मति माँग बैठे, किंतु ऐसा सब समय नहीं हुआ करता, प्रबल विरहकी अवस्थामें निजके प्रति श्रीकृष्णकी उदासीनता समझकर एक घनीभूत प्रबल दैन्य प्रकट होता है एवं क्षणभरके लिये गुरुजनोंमें भी दास्यभाव दिखायी पड़ जाता है—'**विरहवैवश्येन विषयालम्बनस्य स्वस्मिन्नौदासीन्यज्ञानेन च जनिते महादैन्यस्वस्वभावविच्युतिर्दास्यभावग्रहणं च** (श्रीविश्वनाथ)'।

इस प्रकार नन्दरायने अपने गोष्ठीवर्गसहित उद्धवजीका अनुगमन किया था। रथके घोड़े भी धीरे-धीरे पदक्षेप करते हुए इस प्रकार चल रहे थे कि साथ चलनेवाले भी पैदल उनका साथ निभा सकें। बड़ी दूर चले जानेके पश्चात् उद्धवजी रथसे उतरे एवं प्रत्येकको गाढ़ आलिंगन तथा यथोचित अभिवादन करके उनसे निवृत्त होनेका अनुरोध किया। गमनसे निवृत्त होकर सब वहीं तबतक कठपुतलीकी भाँति निश्चल खड़े रहे, जबतक कि रथकी ध्वजा दृष्टिगोचर होती रही।

उद्धवजी मथुरा चले जा रहे हैं। वृन्दावनमें तृण-लता होकर जन्म-ग्रहणकी कामना करके फिर व्रज छोड़कर मथुरा क्यों जा रहे हैं? यह प्रश्न प्रत्येकके मनमें अवश्य उठेगा। श्रीशुकदेवजीने इसका उत्तर एक शब्दमें मथुराका विशेषण देते हुए दे दिया है—'**कृष्णपालिताम्**'। मथुरा इस समय स्वयं श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपालित

है। श्रीकृष्ण इस समय स्वयं मथुरामें ही विराजमान हैं। ऐसी अवस्थामें उद्धव-सदृश प्रियजनके लिये तो मथुरा जाना ही एकान्त कर्तव्य हो जाता है। माधुर्य-गौरव-हेतु व्रजधाम सर्वशिरोमणि होते हुए भी प्रकटलीला-हेतु प्रभु जहाँ साक्षात् विराज रहे हों, भृत्यका कर्तव्य तो उनके पदपार्श्वमें अवस्थान ही होता है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादने '**कृष्णपालिताम्**' पदमें एक अन्य आशय भी खोज निकाला है। उद्धवजी जाते-जाते मन-ही-मन सोच रहे हैं—मथुरा जाकर प्रियसखा श्रीकृष्णसे कहूँगा कि मथुरावासियोंका तो वे इतने यत्नसे पालन कर रहे हैं, फिर व्रजवासियोंके प्रति औदासीन्य क्यों दिखा रहे हैं? क्या वे नहीं जानते कि मथुरावासी भक्तोंकी अपेक्षा व्रजवासी भक्तोंकी कृष्ण-प्रीति सहस्रगुणा अधिक गम्भीर है। मथुरावासी तो प्रतिपालित होंगे और व्रजवासी रोते-रोते प्राण त्याग देंगे, ऐसा अन्याय मैं अब और नहीं होने दूँगा। व्रज-प्रेमसे भावित मन-प्राण लिये उद्धवजी मथुराके राजमार्गपर चले जा रहे हैं।

वेदनापूर्ण व्रजवार्ता

श्रीमान् उद्धवको व्रज भेजनेके पश्चात् श्रीकृष्ण परम उत्कण्ठामें ही अपना कालयापन कर रहे हैं। दिन गिनते-गिनते पक्ष, पक्ष गिनते-गिनते मास, मास गिनते-गिनते पूरे दस मास व्यतीत हो गये—'**धृततृष्णतया वासरपक्षमासान् क्रमगणनया गणयन्**'। आज धैर्यका बाँध टूट गया। इसीलिये वे अत्युन्नत अट्टालिकाके ऊपरवाले शिखरकी छतपर जा खड़े हुए हैं। व्रजके पथपर जितनी दूर दृष्टि पहुँचती है, उसे देखनेकी अदम्य लालसा जो हृदयमें हिलोरें ले रही है—'**व्रजविलोकनाय मनोरथपालिकामत्युन्नत-चन्द्रशालिकां विन्दमानः**'।

अकस्मात् दीख पड़ा, उद्धवजी आ रहे हैं। उद्धवजीको देखकर श्रीकृष्णको लगा मानो गोकुल ही उद्धव-मूर्ति धारण करके चला आ रहा है—'**गोकुलं साक्षादयमिति**'। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीकी अगवानीके लिये द्रुतगतिसे अट्टालिकासे नीचे उतरकर दूरतक दौड़ते हुए अग्रसर हुए। उद्धवजीके पास पहुँचते ही उन्हें गाढ़ आलिंगनमें बाँध लिया। उसीसे मानो उन्हें गोकुलके दर्शन और स्पर्शका सुख मिल गया। एक बारके आलिंगनसे जब मनकी साध नहीं मिटी तो शत-शत प्रगाढ़ आलिंगनोंके द्वारा मानो उद्धवजीके शरीरको आच्छादित ही कर दिया—'**मुहुरालिङ्गनादिभिरादृत्य**'। फिर उनका हाथ पकड़कर एक निभृत कक्षमें ले गये—'**निभृतस्थानमानिनाय**'।

जनसमूहके समक्ष उद्धवजीसे व्रजका संवाद नहीं पूछा जा सकता। उद्धवजीके मथुरा पहुँचते ही वहाँके प्राय: सभी विशिष्ट व्यक्ति उनके दर्शन-हेतु आ पहुँचे थे। उनके साथ कथा-वार्ताका कोई सुयोग दिये बिना ही श्रीकृष्ण उद्धवजीको

अपने कक्षमें खींच ले गये। सभी समझ गये कि एकान्त कक्षमें रहस्यालाप होगा।

श्रीकृष्णने उद्धवजीके वदनमण्डलपर उभरे स्वेदबिन्दुओंको अपने पीत वसनद्वारा पोंछा और अपने हाथोंमें पंखा लेकर उन्हें हवा करने लगे। इससे उद्धवजीका पथश्रम मिट गया। कोई भी बात जिज्ञासा करनेसे पूर्व श्रीकृष्ण उद्धवजीके मुखकी ओर एकटक ताकते रहे, मुखपर प्रसन्नताके चिह्न दिखायी पड़े। उस प्रसन्नताके दर्शनमात्रसे चित्तकी अधिकतर उत्कण्ठा एवं उद्वेग तो वैसे ही शमित हो गया—'**मुखप्रसादं दृष्ट्वा**'। अब कुशलवार्ताकी जिज्ञासा करने लगे।

प्रथम सामान्यतः सभीके कुशलकी जिज्ञासा की। फिर पिता नन्दराजकी, श्रीदामादि बन्धुगणोंकी, रक्त-पत्रकादि अनुगत जनोंकी एवं धेनुसमूहोंकी तो कुशलकी जिज्ञासा की, किंतु माँ यशोदाके विषयमें प्रश्न करनेमें समर्थ नहीं हो सके—'**प्रसूप्रश्ने नासीत् पटुः**'। ऐसा न कर पानेका हेतु था नेत्रसम्भूत जल—'**दृगम्भःसमुदयः**'। भले ही नयनोंमें जलधारा रहे, उससे बात पूछनेमें क्या बाधा थी? बाधा है। वह जलराशि गोविन्दके कण्ठविवरको कुण्ठित करती हुई उद्गत होने लगी—'**कण्ठविवरं मुहुः कुण्ठं कुर्वन्नुदयति**'। उद्धवजी और श्रीगोविन्द, दोनों ही निःशब्द होकर परस्पर मुँह निहारने लगे। दोनों ही व्रजप्रेममें विभोर हैं। एकके अन्तरमें दीर्घ विरह-वेदना भरी पड़ी है, उसीसे भाषा पराहत है। जितनी बातें हैं, दृष्टि-विनिमयमें ही पर्याप्त हैं।

जब उच्छ्वास किंचित् उपशम हुआ तो उद्धवजी बोले—

अर्धं भवत्प्रभावेण मया तत्र समाहितम्।
भवत्प्रयाणपर्यन्तमर्धं पर्यवसीयते॥

(उत्तरगोपालचम्पू १२। १११)

व्रजमें जाकर मैंने वहाँके विरहक्लिष्ट प्रियजनोंकी आधी वेदनाका तो समाधान कर दिया है, अब आपके गमनपर्यन्त अर्ध समाहित हो जायगी अर्थात् आपके व्रज जानेसे जैसा होता मैं उसका आधा ही कर पाया हूँ। अब इस विषयमें जो शीघ्र कर्तव्य हो, वह आप ही निश्चय करेंगे। ऐसा कहते-कहते उद्धवजी श्रीकृष्णके समक्ष व्रजसे लाये हुए उपायनसमूह—नवनीत, मोदक, अलंकार, वनफल, मुक्ताहार, गुंजा-माला प्रभृति एक-एक करके रखने लगे। किसने क्या भेजा है, यह तो विशेष-विशेष चिह्नद्वारा ही वह समझ गये थे।

मातृप्रदत्त एक वस्तु जो कुछ दूर पड़ी थी, श्रीकृष्णने हस्त-प्रस्तारणपूर्वक दिखायी, किंतु यह कहनेका साहस नहीं बटोर सके कि 'इसे सम्भवत: माँ यशोदाजीने भेजा है।' क्यों? अपने नेत्रोंमें जमा जलराशि कहीं बरस न पड़े, इस भयसे—'**वाष्पाम्बुपाताद्भीतस्तत्तद्विदूरार्पितनयनतया वस्तु तत्तद् ददर्श**'। नेत्रजलक्षरणसे भीत होकर दूरसे ही टकटकी लगाकर मातृदत्त द्रव्यका दर्शन करने लगे। मुँहसे कोई शब्द नहीं निकला।

श्रीउद्धवने व्रजकी कहानी श्रीकृष्णके समक्ष एक ही दिनमें सब नहीं सुना दी, बहुत सारे दिनोंमें थोड़ी-थोड़ी करके कही थी—'**अहोभिर्बहुभिरेव व्याहरिष्यते**'। एक दिन बोले—'व्रजवासियोंमें जैसे प्रेम और प्रेमचेष्टाका दर्शन मिला, वैसा अन्यत्र कहीं किसी भक्तमें हो ऐसा मैं नहीं जानता, न किसीके मुखसे ऐसा सुना भी है।' बस, इतना सुनते ही श्रीकृष्णका मुखमण्डल अनुरागरंजित हो गया। अवस्था देखकर उद्धवजी वहीं मौन हो गये।

एक अन्य दिन सभामें किसी बातके प्रसंगमें उद्धवजी हठात् बोल पड़े—गोकुलके नन्दबाबाके अनुरागमय भावके आवर्त्तको आपके अतिरिक्त दूसरा कौन समझ सकता है? आते समय वे

बोले थे—'तुम्हारे ईश्वर श्रीकृष्णमें मेरे मन, काय और वाणीकी समस्त वृत्तियाँ अक्षुण्ण लगी रहें।' आपकी माँ श्रीयशोदाजी वात्सल्यस्नेहसे गद्गद-कण्ठ होकर रथके पार्श्वमें चित्रलिखित-सी खड़ी-खड़ी वर्षा-ऋतुकी झड़ीकी तरह अश्रुवर्षण करने लगीं और एक शब्द भी उनके मुखसे नहीं निकल सका। इस बातके श्रवणमात्रसे श्रीकृष्ण अधीर होकर सभाके मध्यमें ही उच्च-स्वरसे क्रन्दन कर उठे।

और एक दिन श्रीउद्धवजीने निर्जन स्थान देखकर व्रजांगनाओंके दिव्योन्माद एवं चित्रजल्पका किंचित् आभासमात्र प्रकाश किया—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविरहखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता ॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

सुनो मुरारे! आपकी राधाकी अवस्था! आपके विषम विरह-हेतु उनकी ऐसी स्थिति हो गयी है कि वे घूर्णितचित्त हो गयी हैं। कभी गृहके भीतर ही इधर-उधर भटकने लगती हैं, कभी अन्धकारमें ही अकारण खिलखिलाकर हँसने लगती हैं, तो कभी चेतन-अचेतन-वस्तुभावसे आपके सम्बन्धमें जिज्ञासा करने लगती हैं और कभी-कभी तो भीषणरूपसे काँपते-काँपते धूलमें गड़ागड़ी देने लगती हैं—'**अट्टहासपटलं निर्माति**'। कभी-कभी चमककर स्वरभेदयुक्त घर्घर महाध्वनि करती हुई रोदन करने लगती हैं—'**घर्घरघनोद्घोषम्**'। कभी फिर स्वेदवारिसे पूर्णतः सिक्त हो जाती हैं—'**घर्माम्बुभाक्**'।

उपर्युक्त बातें श्रीकृष्णके कर्णगत होते ही वे 'हा राधे! हा चित्तभ्रमरकी चूतमंजरि!' कहते-कहते बाह्यज्ञानशून्य हो गये।

फिर बहुत देरके पश्चात् अर्धबाह्यदशा-लाभ करके भी 'हा भानुनन्दिनि!' कहते हुए उन्होंने अनेक विनिद्र रजनियाँ अतिवाहित की थीं।

नन्दनन्दन अपने हृदयमें कितना अनुराग, कितना गम्भीर प्रेम, कितनी निविड विरह-वेदना छिपाये हुए मथुरामें निवास कर रहे हैं, उसका किंचित् आभासमात्र पाकर उद्धवजी विस्मयाविष्ट हो गये। श्रीकृष्णके लिये व्रजकी तड़पन और व्रजके लिये श्रीकृष्णकी तड़पन—इन दोनोंका अनुभव प्राप्त कर उद्धवजी मिलन-विरहमय एक अनिर्वचनीय रसके समुद्रमें गोते खाने लगे। आइये, हम भी उस रससमुद्रमें डुबकी लगा लें।

कैसा अपूर्व दृश्य है। सभी विरहकातर हैं, किंतु कोई किसीसे अदृश्य या पृथक् नहीं है। व्रजजन अपने मानस-नयनोंसे श्रीकृष्णका दर्शन कर रहे हैं और श्रीकृष्ण वैसे ही व्रजजनोंका दर्शन कर रहे हैं।

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'

(गीता ६। ३०)

मानो, ये सब गीताके उपर्युक्त मन्त्रके साकार विग्रह हैं। गीताकी वाणी श्रीमद्भागवतमें ही प्राणवान् हुई है। तभी श्रीश्रीबन्धुसुन्दरने लिखा है—

भक्तिशास्त्र भागवत सार करो अविरत रे।
अनासक्ति शुद्धा भक्ति भाव सुनिर्मल रे॥

॥ श्रीहरिः ॥

नित्यपाठ, साधन-भजन एवं कर्मकाण्ड-हेतु

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
592	**नित्यकर्म-पूजाप्रकाश** [गुजराती, तेलुगु भी]	1281	**दुर्गासप्तशती** (विशिष्ट सं०)
1593	**अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश**	866	,, केवल हिन्दी
1895	**जीवच्छ्राद्ध-पद्धति**	1161	,, केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द
1809	**गया श्राद्ध-पद्धति**	819	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**-शांकरभाष्य
1928	**त्रिपिण्डी श्राद्ध-पद्धति**	206	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—सटीक
1416	**गरुडपुराण-सारोद्धार** (सानुवाद)	226	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]
1627	**रुद्राष्टाध्यायी**-सानुवाद	1872	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**-लघु
1417	**शिवस्तोत्ररत्नाकर**	509	**सूक्ति-सुधाकर**
1774	**देवीस्तोत्ररत्नाकर**	1801	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** (हिन्दी-अनुवादसहित)
1623	**ललितासहस्रनामस्तोत्रम्**- [तेलुगु भी]	207	**रामस्तवराज**—(सटीक)
610	**व्रत-परिचय**	211	**आदित्यहृदयस्तोत्रम्**— हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी]
1162	**एकादशी-व्रतका माहात्म्य**— मोटा टाइप [गुजराती भी]	224	**श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र** [तेलुगु, ओड़िआ भी]
1136	**वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य**	231	**रामरक्षास्तोत्रम्**— [तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]
1588	**माघमासका माहात्म्य**	1594	**सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह**
1899	**श्रावणमासका माहात्म्य**	1850	**शतनामस्तोत्रसंग्रह**
1367	**श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा**	715	**महामन्त्रराजस्तोत्रम्**
052	**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी]		**नामावलिसहितम्**
1629	,, ,, सजिल्द	1599	**श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्** (गुजराती भी)
1567	**दुर्गासप्तशती**— मूल, मोटा (बेड़िया)	1600	**श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्**
876	,, मूल गुटका	1601	**श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्**
1727	,, मूल, लघु आकार	1663	**श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्**
1346	,, सानुवाद मोटा टाइप	1664	**श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्**
118	,, सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी]	1665	**श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्**
489	,, सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी]		

कोड	पुस्तक
1706	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्**
1704	**श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्**
1705	**श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्**
1707	**श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्**
1708	**श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्**
1709	**श्रीगंगासहस्रनामस्तोत्रम्**
1862	**श्रीगोपाल स०**-सटीक
1748	**संतान-गोपालस्तोत्र**
563	**शिवमहिम्नःस्तोत्र** [तेलुगु भी]
230	**अमोघ शिवकवच**
495	**दत्तात्रेय-वज्रकवच** सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]
229	**श्रीनारायणकवच** [ओड़िआ, तेलुगु भी]
1885	**वैदिक-सूक्त-संग्रह**
054	**भजन-संग्रह**
1849	**भजन-सुधा**
140	**श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली**
144	**भजनामृत**
142	**चेतावनी-पद-संग्रह**
1355	**सचित्र-स्तुति-संग्रह**
1800	**पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह**
1214	**मानस-स्तुति-संग्रह**
1092	**भागवत-स्तुति-संग्रह**
1344	**सचित्र-आरती-संग्रह**
1591	**आरती-संग्रह**—मोटा टाइप
153	**आरती-संग्रह**
1845	**प्रमुख आरतियाँ**-पॉकेट
208	**सीतारामभजन**
221	**हरेरामभजन**— दो माला (गुटका)
222	**हरेरामभजन**—१४ माला
225	**गजेन्द्रमोक्ष**-सानुवाद, [तेलुगु, कन्नड़, ओड़िआ भी]
385	**नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र,** सानुवाद [बँगला, तमिल भी]
1505	**भीष्मस्तवराज**
699	**गङ्गालहरी**
1094	**हनुमानचालीसा**— हिन्दी भावार्थसहित
1917	,, मूल (रंगीन) वि०सं०
227	,, (पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]
695	**हनुमानचालीसा**—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ, बँगला भी]
1525	**हनुमानचालीसा**—अति लघु आकार [गुजराती भी]
228	**शिवचालीसा**—असमिया भी
1185	**शिवचालीसा**-लघु आकार
851	**दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा**
1033	,, लघु आकार
232	**श्रीरामगीता**
383	**भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी....**
203	**अपरोक्षानुभूति**
139	**नित्यकर्म-प्रयोग**
524	**ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री**
236	**साधक-दैनन्दिनी**
1471	**संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य**
210	**सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण-बलिवैश्वदेवविधि**— मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी]
614	**सन्ध्या**

गीताप्रेस, गोरखपुरकी निजी दूकानें / शाखाएँ

इन्दौर-452001	जी० 5, श्रीवर्धन, 4 आर. एन. टी. मार्ग **Mob. 9630111144**	✆ (0731) 2526516, 4381328
ऋषिकेश-249304	गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम **Mob. 7002652212**	
कटक-753009	भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी **Mob. 8093091800, 9338091800, 8847856627**	✆ (0671) 2335481
कानपुर-208001	24/55, बिरहाना रोड **Mob. 8299309991, 9839922098**	✆ (0512) 2352351
कोयम्बटूर-641018	गीताप्रेस मेंशन, 8/1 एम, रेसकोर्स **Mob. 9943112202, 9363007365**	
कोलकाता-700007	गोबिन्दभवन; 151, महात्मा गाँधी रोड **Mob. 9831004222, 9804801447**	✆ (033) 40605293
चेन्नई-600010	इलेक्ट्रो हाउस No. 23 रामनाथन स्ट्रीट किलपौक **Mob. 7200050708**	✆ (044) 26615959, 26615909
जलगाँव-425001	7, भीमसिंह मार्केट, रेलवे स्टेशनके पास **Mob. 9422281291, 7020118397**	✆ (0257) 2226393
दिल्ली-110006	2609, नयी सड़क **Mob. 7289802606, 9999732072**	✆ (011) 23269678, 23259140
नागपुर-440002	श्रीजी कृपा कॉम्प्लेक्स, 851, न्यू इतवारी रोड **Mob. 8830154589**	✆ (0712) 2734354
पटना-800004	अशोकराजपथ, महिला अस्पतालके सामने **Mob. 8002826662, 8210494381**	✆ (0612) 2300325
बेंगलुरु-560027	7/3, सेकेण्ड क्रास, लालबाग रोड **Mob. 8310731545, 9341891495**	
भीलवाड़ा-311001	जी 7, आकार टावर, सी ब्लाक, गान्धीनगर **Mob. 9928527747**	✆ (01482) 248330
मुम्बई-400002	282, सामलदास गाँधी मार्ग (प्रिन्सेस स्ट्रीट) **Mob. 9768954885, 8369536765**	✆ (022) { 22030717, 42667046
राँची-834001	कार्ट सराय रोड, अपर बाजार, बिड़ला गद्दीके प्रथम तलपर **Mob. 7004458358**	
रायपुर-492009	मित्तल कॉम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी नाका चौक (छत्तीसगढ़) **Mob. 9329326200, 7879845886**	✆ (0771) 4034430, 4035310
वाराणसी-221001	59/9, नीचीबाग **Mob. 9839900745, 9140256821**	✆ (0542) 2413551
सूरत-395001	2016, वैभव एपार्टमेन्ट, भटार रोड **Mob. 9374047258, 9723397258**	✆ (0261) 2237362, 2238065
हरिद्वार-249401	सब्जीमण्डी, मोतीबाजार **Mob. 9760275146, 9675721305**	✆ (01334) 222657
हैदराबाद-500095	41, 4-4-1, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार **Mob. 9291205498, 9573650611**	✆ (040) 24758311
काठमाडौं-44600 (नेपाल)	पसल नं० 6,7,8 माधवराज सुमार्गी स्मृति भवन, वनकाली, पशुपति क्षेत्र। **e-mail : gitapress.nepal@gmail.com** **WhatsApp & Mob. +977- 9861493826, 9823490038**	

गीताप्रेस, गोरखपुर—273005 ✆ **+91-9235400242 / 244** **+91-9235400244**

e-mail : **booksales@gitapress.org**—थोक पुस्तकोंसे सम्बन्धित सन्देश भेजें।
website : **www.gitapress.org/gitapressbookshop.in**—सूची-पत्र तथा पुस्तकोंका विवरण पढ़ें एवं गीताप्रेसकी खुदरा पुस्तकें Online डाकसे/कूरियरसे मँगवायें।

gitapress_since1923 gitapress_since1923 @GitaPress @gitapress1923

Code 501